सूरदास
का
काव्य-वैभव

संग्रहणीय शोध-ग्रन्थ

सूरदास का काव्य-वैभव

डॉ० मुंशीराम शर्मा
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्

रामबाग, कानपुर

ग्रन्थम

मूल्य :
बारह रुपए पचास पैसे

प्रकाशक :
ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर

प्रकाशनकाल :
नवम्बर, १९६५

मुद्रक :
मानक प्रिण्टर्स, आनन्दबाग,
कानपुर–१

आमुख

प्रस्तुत प्रबन्ध कविकुल तिलक महात्मा सूरदास की काव्यश्री पर प्रकाश डालने के लिए लिखा गया है। प्रकाशित तो वह ४०० वर्षों से है, परन्तु काव्यशास्त्र की दृष्टि से उसका विश्लेषण अभी तक बहुत कम हुआ है। सर्वप्रथम काशी विश्वविद्यालय के हिन्दी प्राध्यापक स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने 'सूर पंचरत्न' की भूमिका में सूर के काव्य का शास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण किया था। श्री शिखर चन्द्र जैन की 'सूर एक अध्ययन' पुस्तक में भी सूर की कला का विवेचन किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने "भ्रमरगीत सार" की भूमिका में जो विचार प्रकट किए गए हैं उनमें भी भावपक्ष के साथ काव्यकला की मीमांसा उपलब्ध होती है। 'सूर सौरभ' में हमने भी सूरदास के काव्य की विशेषताओं के उद्‌घाटन का प्रयत्न किया है। कुछ अन्य ग्रन्थ भी इधर प्रकाशित हुए हैं जिनमें सूर की काव्यकला का विवेचन प्राप्त होता है।

महात्मा सूरदास से सम्बन्धित हमारे तीन ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं—'सूर सौरभ' 'भारतीय साधना और सूर साहित्य,' तथा 'सूरदास और भगवद्भक्ति। 'भक्ति विकास' शीर्षक ग्रंथ में भी हमने सूरदास की भक्ति का प्रतिपादन किया है। सूरकाव्य का अध्ययन और अध्यापन करते हुए सूर के काव्य-पक्ष की कई ऐसी दिशाओं का आभास हुआ जो अभी तक अनुद्‌घाटित पड़ी रहीं। इनमें से एक दिशा है सूर के काव्य का वक्रोक्ति, ध्वनि तथा औचित्य सम्प्रदाय की दृष्टि से अध्ययन। मैंने अपने दो शिष्यों को इसी दिशा में कार्य करने के लिए प्रेरित किया है। और वे तन् मन एक होकर इस कार्य में जुट गये हैं।

'साहित्य लहरी' में सूरदास के जीवन-परिचायक पद के रहते हुए भी साधारण नहीं बड़े-बड़े विद्वानों के अंदर भी संदेह बना हुआ है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने जिस पद की प्रामाणिकता स्वीकार की थी और जिसके आधार पर उन्होंने सूर को एक महान कुल से संबद्ध माना था, उस पद को अप्रामा-

णिक घोषित करने का प्रबल प्रयत्न होता रहा है और वह केवल इस आधार पर कि वार्ता साहित्य में एक स्थान पर उन्हें सारस्वत लिखा गया है। हम इसके पूर्व भी लिख चुके हैं कि भट्ट और सारस्वत दोनों शब्दों में कोई विरोध नहीं है। काश्मीरी भट्ट तथा महाराष्ट्रीय भट्टों का एक वर्ग आज तक अपने को सारस्वत कहता है। भट्टों को विद्वद्जन सरस्वती पुत्र कहते ही रहे हैं। सरस्वती पुत्र का अर्थ सारस्वत ही है। बाणभट्ट ने भी अपनी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए अपने पूर्वजों को सरस्वती से उद्‌भूत माना है। सूरदास के पूर्वज महाकवि चन्दबरदायी ने भी जहाँ अपने आप को 'कवि' 'भट्ट' 'बर–दायी' आदि लिखा है, वहाँ 'सारस्वत' भी लिखा है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने जिस 'पृथ्वीराज रासउ' का संपादन किया है, उसकी भूमिका के पृष्ठ १२५ १२६, १२७ तथा १२८ पर उन्होंने 'पुरातन प्रबंध संग्रह' में सुरक्षित 'पृथ्वी–राज प्रबंध' का सारांश उपस्थित किया है। इस साराँश में पृष्ठ १२७ पर चन्द अपने को 'सारस्वत' कहता है—'मैं सिद्ध सारस्वत करता हूँ'।

'साहित्यलहरी में के- 'मुनि पुनि रसन के लेख' टेक वाले पद में सूर ने जिस संबत का निर्देश किया है, उसे हमने सांवत्सरिक गणना के आधार पर १६२७ बिक्रमी माना था। 'सुबल' शब्द से हमने वृषभ संवत्सर का अर्थ लेकर जो सं० १६२७ में पड़ता है, ऐसा लिखा था। इधर जो खोज हुई है उससे इसी संबत की सत्यता सिद्ध हो रही है।

'सूरदास का काव्य-वैभव' नाम से अब हमारा यह चतुर्थ ग्रंथ सूर साहित्यानुरागियों के समक्ष उपस्थित हो रहा है। इसका कुछ अंश पूर्व ग्रंथों में भी आ चुका है। विशेषतः सूर की काव्य-संपदा पर ही इसमें विचार किया गया है। काव्य के भाव तथा कला दो पक्ष सर्व स्वीकृत हैं। क्रोचे के अनु-सार दोनों एक दूसरे में ऐसे अनुस्यूत हैं कि उनका पृथक्करण दुरूह एवं कष्ट साध्य-सा प्रतीत होता है। सर्वश्रेष्ठ अनुभूति अपनी अभिव्यक्ति के अन्यतम क्षणों में सर्वश्रेष्ठ शब्दों में ही प्रकट होती है। हमारे यहाँ कवि को इसीलिए 'प्रजापति' की संज्ञा प्राप्त है, फिर भी आलोचकों ने दोनों के पार्थक्य का प्रयत्न किया ही है। भाव जहां हृदय प्रसूत हैं वहाँ कला बुद्धि जन्य है। इसी हेतु उसे 'वैदग्ध भंगी भणिति' कहा गया है। विदग्धता बुद्धि की उपज है। उसमें जिस भँगिमा के दर्शन होते हैं। उसे चिंतन तथा मनन का परिणाम कहा जा सकता हैं ; पर जैसे प्रज्ञा में दोनों मिलकर एक हो जाते हैं वैसे ही सर्वश्रेष्ठ काव्य के लिये क्रोचे ने उनकी एकता का प्रतिपादन किया है।

सूरदास का भाव-भंडार अपार है उसी प्रकार उनकी कला भी, अभिव्यक्ति -कौशल भी गहन एवम् विशाल है। किसी आलोचक ने सूरदास की महिमा को लक्ष्य करके कहा है—

उत्तम पद कवि गंग के उपमा को बलबीर।
केशव अर्थ गंभीरता, सूर तीन गुण धीर ॥

महराज रघुराज सिंह ने भी सूर के कलापक्ष की प्रशंसा करते हुए लिखा है—

भने रघुराज और कविन अनूठी उक्ति।
मोहि लागी जूठी, जानि जूठी सूरदास की ॥

प्रस्तुत प्रबंध को पढ़कर यदि सहृदय पाठकों में किसी नवीन दिशा का आभास हो सके तो मैं अपने प्रयत्न को सफल समझूंगा। मेरे प्रिय शिष्य श्री वाल्मीकि त्रिपाठी एम. ए. इसे 'ग्रंथम प्रकाशन' द्वारा प्रकाशित कर रहे हैं। अतः मेरे परिश्रम के साथ इसमें उनकी श्रद्धा का भागदान भी सम्मिलित हैं। परम ब्रह्म उन्हें यशस्वी करें।

देवोत्थान एकादशी सं० २०२२
'भागवतम्'
९/१७ आर्य नगर
कानपुर

मुंशीराम शर्मा

विषय-सूची

—o—

प्रथम अध्याय

आचार्य वल्लभ और महात्मा सूरदास

महात्मा सूरदास का प्रादुर्भाव ऐसे समय में हुआ जब देश में अपने शासन तन्त्र से निकलकर पारतन्त्रता के पाशों में आबद्ध हो चुका था। परतन्त्रता अपने साथ जिन अभिशापों को लाती है, उनके कुफल भी इस देश को भोगने पड़े। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने इस दिशा में कई संकेत किए हैं यथा—

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैक निलयेषु च।
सत्पीडा व्यग्र लोकेषु कृष्णा एव गतिर्मम॥
गंगादितार्थं वर्येषु दुष्टैरेखा वृतोष्विह।
तिरोहिताधिदैवेषु कृष्ण एव गतिमम॥

आर्यों ने जिन्हें म्लेच्छ संज्ञा दी होगी और जिन्हें दुष्ट कहा होगा, वे अपने आचरण में आर्यों से विपरीत रहे होंगे। कर्म का विधान बड़ा विचित्र है। जिन्हें म्लेच्छ कहते थे वे ही इस देश के तन्त्र नियामक बन गये। आचार्य वल्लभ जैसे साधनशील सत् पुरुष का इस परिस्थिति में व्यग्र होना स्वाभाविक था। दीन-हीन की अन्तिम शरण भगवान ही हैं। आचार्य वल्लभ जब कृष्ण को ही वरेण्य, शरेण्य कहते हैं तब उनका यही भाव है।

महात्मा सूरदास उन दिनों आगरा और मथुरा के बीच रुनकता के समीप यमुना घाट पर रहते थे और सन्यास ले चुके थे। उनके भक्त हृदय की ख्याति चतुर्दिक व्याप्त हो चुकी थी। वे भक्ति के पद बनाकर गाया करते थे। आचार्य वल्लभ सूर की ख्याति से आकर्षित होकर ही उनके समीप

पहुंचे और वह दैवी संयोग ही था कि दोनों एक ही भक्ति-मार्ग पर आरूढ़ हो गये।

कहा जाता है कि आचार्य महाप्रभु का प्राकट्य हुआ तभी महात्मा सूरदास का भी "सूर सौरभ" में सूरसारावली की निम्नाँकित पंक्तियों के आधार पर हमने सूरदास का जन्म सं० १५१५ स्थिर किया है—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
सिव विधान तप कियो बहुत दिन तऊ पारि नहिं लीन॥

इन पंक्तियों के अनुसार सूरदास को अपने जीवन की परिपक्वावस्था में अर्थात सरसठ वर्ष की आयु में भगवतदर्शन हुये। यह गुरु-कृपा का ही प्रसाद था। सूरसारावली में—

'सहस रूप बहुरूप रूपपुनि एक रूप पुनि दोय।'

शब्दों द्वारा इसी दर्शन की अभिव्यक्ति की गई है। साहित्य लहरी में दो पद सूरदास के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले हैं। एक पद का सम्बन्ध उनके वंश के साथ है और दूसरा पद साहित्यलहरी के निर्माणकाल का द्योतक है—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी-नन्द को लिखि सुबल सम्वत् पेख॥
नन्द-नन्दन मास छय ते हीन तृतीया वार।
नन्द-नन्दन जन्म ते हैं बान सुख आगार।

इस पद में नन्दनन्दन, मास, अक्षय, तृतीया, कृतिका, नक्षत्र, सुकर्म, योग और रविवार दिवस तथा सुबल सं० का उल्लेख है। इनमें एक आध को छोड़कर सब सं० १६२७ में पड़ते हैं। सुबल का पर्यायवाची वृषभ संवत् भी इसी वर्ष में पड़ता है, अतः सूर सं० १६२७ तक जीवित थे, यह सहज अनुमान का विषय है। दूसरे पद के अनुसार सूर महाकवि चन्दवरदाई के वंश में उत्पन्न हुए थे, यह तथ्य 'भविष्य पुराण' द्वारा समर्थित है और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र तथा अन्य अनेक विद्वानों द्वारा स्वीकृत है। वल्लभ सम्प्रदाय में उन्हें सारस्वत ब्राह्मण कहा जाता है वह भी इस तथ्य के विरुद्ध नहीं है। सूरदास ने स्वयं अपने को देवीपुत्र लिखा है। वाणभट्ट ने अपने वंश का संबंध सरस्वती के साथ स्थापित किया है। पौराणिक शैली में सरस्वती का अर्थ विद्या है, ब्राह्मण ज्ञान के निधान और विद्याव्रत के स्नातक माने जाते हैं।

काश्मीरी तथा महाराष्ट्रीय भट्टों का एक वर्ग अपने को सारस्वत कहता है। ब्रह्मभट्टों के गोत्र को जाँचने से ज्ञात हुआ कि इनके गोत्र अन्य ब्राह्मणों के समान ही हैं। ऐतिह्य के ज्ञाता चन्दवरदाई को भी सारस्वत[1] ही मानते हैं। 'सूरसौरभ' में हमने एतदविषयक पुष्कल सामग्री एकत्र कर दी है।

ऐसे उच्च वंश में उत्पन्न होकर सूरदास जिस पथ के पथिक बने, वह उनके आभिजात्य के अनुकूल ही था।

भक्तिधारा

सूरदास के समय में ब्रजमण्डल भक्ति प्रधान सम्प्रदायों का केन्द्र बन रहा था। यह भक्ति कतिपय विद्वानों के अनुसार[2] दक्षिण से उत्तर में आई। 'भक्ति का विकास' ग्रन्थ में हमने भक्तिधारा को वेदकाल से ही प्रारम्भ हुआ निश्चित किया है। यह अवश्य सत्य है कि हिन्दी के भक्तिकाव्यकाल का उन्नयन जिन आचार्यों द्वारा हुआ उनमें रामानन्द जी को छोड़कर सब दक्षिणात्य थे। आचार्य शंकर, रामानुज, माध्व, विष्णुस्वामी, निम्बार्क, वल्लभ सभी दक्षिणात्य हैं। वेद के प्रति सबकी दृढ़ आस्था है। वेद में जो प्रार्थनायें आती हैं उनमें मानव–हृदय की अतीवकातर परन्तु शाश्वत पुकार अन्तर्हित है। 'भक्ति तरंगिणी' और 'श्रुति संगीतिका' में वेदमन्त्रों के जो गीतानुवाद प्रस्तुत किये गए हैं उनमें भाव भरित भक्त-हृदय का आत्म-निवेदन अपने चारु रूप में प्रस्फुटित हुआ है। इन भावनाओं में वैयक्तिक ही नहीं सामाजिक

---

१. काव्योपजीवी तथा वैदिक ब्राह्मणों ने मिलकर किसी समय व्रज के आसपास अपना एक वर्ग बनायाथा जिसे ब्रह्मभट्ट कहते हैं। सूत्र मागधों के साथ इस वर्ग का कोई सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि भट्ट शब्द से वे भी अभिहित होते हैं।

२. कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायणाह
क्वचित, क्वचित, महाराज द्राविणेषु च भूरियाः

भागवत ११-५-३८-३९

दक्षिण के आलवार अपनी भक्ति भावना के लिए ख्यात हैं। इनकी मूर्तियाँ भी दक्षिण के वैष्णव मन्दिरों में स्थापित हैं। आन्दरत्न का नाम इनमें विशेष रूप से प्रख्यात है।

संस्पर्श भी हैं। वैदिक प्रार्थनाओं में प्रभु को माता-पिता विधाता बन्धु सखा आदि कई रूपों में स्मरण किया गया है। जिसे हम माधुर्यभाव की भक्ति कहते हैं उसके बीज भी वेदमन्त्रों में विद्यमान हैं। वेद से चलकर यह भक्तिधारा कभी सान्द्र, कभी विरल रूप में अपने अस्तित्व को सार्थक करती हुई आज चली आई है। सूर के समय में इसका साँद्र रूप था।

पाञ्चरात्र, आगम, महाभारत, भगवत् गीता, नारद, भक्तिसूत्र, सांडिल्य भक्तिसूत्र आदि ग्रन्थों में भक्ति के स्वरूप की मीमाँसा उपलब्ध होती है। महाभारत का नारायणी पर्व जिसे एकांतिक भक्ति कहता है, गीता जिसे अनन्य चिन्तन और पर्योपासन कहती है, भक्तिसूत्र जिसे परम प्रेम रूप तथा परानुरक्ति का नाम देते हैं। परवर्ती वैष्णव आचार्यों ने जिसे षटविद्या शरणागति की संज्ञा दी और एकादश आसक्तियों में जिसे विभक्त किया, भागवतकार ने जिसे श्रवण-कीर्तन आदि नौ विभागों में वि भक्त किया, सूर ने उसी पद्धति का अनुगमन करते हुए भक्ति को ज्ञान, कर्म, तप, योग आदि सबसे उर्ध्वतर स्थान दिया।

महात्मा सूरदास ने इस भक्ति की सम्यक् दीक्षा आचार्य वल्लभ से ग्रहण की, जो स्वयं विश्वस्वामी के मतानुयायी थे। वल्लभ के गुरु श्री नारायण भट्ट थे। अन्य मतानुसार माधवेन्द्र पुणे जो मध्वसम्प्रदाय के आचार्य कहे जाते हैं। कृष्ण चैतन्य के गुरु भी यही थे। इनके शिष्य माधवानन्द आचार्य वल्लभ के दोनों पुत्रों के गुरु थे। आचार्य वल्लभ का शुद्धाद्वैत का सिद्धांत भी किसी न किसी रूप में पहले से चला आता था। पुष्टिमार्ग भगवत् कृपैकलभ्य अनुग्रह मार्ग है। आचार्य बल्लभ ने इसे जो रूप प्रदान किया वह वस्तुतः नूतन था।

ब्रज में जब इस भक्ति-आंदोलन का प्रारम्भ हुआ तब लोदी वंश का प्रभुत्व था। इतिहासकारों ने मुस्लिम शासकों के अत्याचारों का जो विवरण दिया है उसमें मथुरा और वृन्दावन के मन्दिरों के तोड़े जाने तथा मथुरा के घाटों पर स्नान करने के निषेध-आदेश भी सम्मिलित हैं। आचार्य वल्लभ ने अपनी ब्रजयात्रा में इन अत्याचारों का विरोध किया। इसका प्रभाव सिकन्दर लोदी पर भी पड़ा होगा। यह शासन जीवन के अन्तिम समय में दयालु हो गया था और जैसा किशनगढ़ के राजा भक्त प्रवर नागरीदास जी की कृति छप्पन भोग तन्त्रिका से प्रगट होता है, वह आचार्य वल्लभ का प्रशंसक भी बन गया था।

आचार्य वल्लभ के पिता श्री लक्ष्मण भट्ट ने उन्हें गोपाल मन्त्र की दीक्षा दी थी। सन् १४८७ ई० में जब लक्ष्मण भट्ट का निधन हो गया तो आचार्य वल्लभ भारत-यात्रा पर चल पड़े और पुरुषोत्तम के दरबार में पहुँचे। वहाँ 'एकम शास्त्रं देवकी पुत्र गीतम। एकोदेवी देवकीपुत्र एव। मन्त्रोपि एकः तस्य नामानियानि परमाण्येकम तस्य देवस्य सेवा'।

इस श्लोक द्वारा उन्होंने जिन सिद्धाँतों का प्रतिपादन किया उनसे प्रभावित होकर राजा ने इनका सम्मान किया। इसके उपरान्त वे पण्ढरपुर पहुंचे और वहाँ से विजयनगर गये। राजा कृष्णदेव राय ने उनका कनकोत्सव किया। फिर वह काशी आ गये, काशी से जगन्नाथपुरी। इन्हीं दिनों श्री देवन भट्ट की पुत्री महालक्ष्मी के साथ उनका विवाह हुआ। इसके उपरान्त वह व्रज प्रांत में आये। श्रावण शुक्ल एकादशी, गुरुवार १५६३ विक्रमी के दिन उन्होंने गोकुल में गोविन्द घाट पर विश्राम किया। यह तिथि 'सम्प्रदाय' में मान्य समझी जाती है उनके 'सिद्धाँत रहस्य' ग्रन्थ के आधार पर कहा जा सकता है कि आचार्य वल्लभ भक्ति मार्ग की मर्यादा में समस्त वस्तुओं को भगवत् समर्पित करके कार्य करने को महत्व देते हैं। यही आत्म निवेदन भी हैं। जिससे ब्रह्मभाव को प्राप्त हुआ भक्त उसी प्रकार निर्मल हो जाता है जिसप्रकार पुण्यतो या जाह्नवी के जल में मिला हुआ नालियों का जल। सम्प्रदाय में शरण दीक्षा तथा ब्रह्म सम्बत दीक्षा भी प्रसिद्ध है। प्रथम को नाम निवेदन और द्वितीय को आत्म निवेदन कहते हैं। गोकुल से वे गोवर्धन पर्वत पर स्थित एक मंदिर को देखने गये, जहां उनके गुरु माधववेन्द्रपति रहा करते थे। मति जी के ही नाम पर समीपस्थ जतीपुरा ग्राम भी है। सन् १४८१ ई० के फाल्गुन मास में इस मंदिर में स्थापित देवदमन मूर्ति की पूजा का उत्सव हुआ। यति जी सन् १४८३ ई० में जगन्नाथ पुरी गये और वहीं स्वर्गवासी हो गये। इस मन्दिर के निकट ही पूरनमलखत्री ने एक नवीन मन्दिर की नींव रक्खी और देव-दमन मूर्ति का नाम आचार्य वल्लभ की सम्मति से श्रीनाथ जी रक्खा गया।

व्रज से वह पुनः जगन्नाथपुरी गये फिर काशी में आकर 'सुबोधनी' की रचना की। काशी से अड़ैल पहुंचे और पुनः व्रज में आये। जैसा लिख चुके हैं वे रुनकता के समीपवर्ती गोघाट पर भी पहुंचे, जहां महात्मा सूरदास रहते थे।

यही सूरदास आचार्य वल्लभ की शरण में पहुंचे। और उनसे दीक्षा ग्रहण की। गिरिराज पर श्रीनाथ मंदिर की स्थापना हो चुकी थी। संवत

१५७६ में यह मन्दिर पूर्ण हो गया इसमें श्रीनाथ जी का पाटोत्सव मनाया गया। महात्मा सूरदास को भी इस मन्दिर में सेवा प्राप्त हुई।

'चतुः श्लोकी' के अनुसार आचार्य वल्लभ की भक्ति का रूप इस प्रकार है :—

सर्वदा सर्व भावेन भजनीयो व्रजाधिपः।
स्वस्यायमेव धर्मोहि नान्यः क्वापि कदाचन॥

[सर्वदा सर्वभाव के साथ व्रजाधिप कृष्ण ही भजनीय हैं। अपना यही धर्म है। अन्य कहीं और कुछ भी नहीं। प्रभु परम समर्थ हैं, अतः वे ही भक्त के योग-क्षेत्र के विधाता हैं, ऐसा समझ कर भक्त निश्चिन्त हो जाता है और वह लौकिक तथा वैदिक मान्यताओं से अपने को मुक्त पाता है।]

श्रीमद्भागवत का पठन-पाठन तथा श्रवण-श्रावण प्रभु प्रेम को स्थिरता देने के लिये आवश्यक समझा गया है। आचार्य वल्लभ भागवत को बहुत अधिक महत्व देते थे। अपने 'तत्वदीप' निबन्ध में भागवत के 'पुष्टि' शब्द को लेकर ही उन्होंने कृष्णानुग्रहः रूपाहि पुष्टि, इस सिद्धान्त की स्थापना की। आचार्य वल्लभ ने ज्ञान को साधन कहा है। भक्ति भी साधन है, परन्तु निःसाधन भक्तिमार्ग एक प्रकार की सिद्धि है। जो भक्त निरावलम्ब होकर भगवान की शरण ग्रहण करते हैं, उन्हें भगवान की अनुग्रह प्राप्त होता है। जीवन की यह सब से बड़ी सिद्धि है। पुष्टि के भी चार भाग किये गये हैं।—

(१) प्रवाह पुष्टि,
(२) मर्यादा पुष्टि,
(३) पुष्ट पुष्टि
(४) शुद्ध पुष्टि।

'हेरिणाये विप्रयुक्ताः तेमग्ना भव सागरे' जो जीव भवसागर में मग्न हैं और प्रभु द्वारा परित्यक्त हैं, उन्हें जब प्रभु के त्याग का, प्रभु के वियोग का अनुभव होने लगता है तो वे अति क्रन्दन करते हुए, प्रभु-प्राप्ति के प्रयास में मग्न होने लगते हैं।

उनका यह आकर्षित होना ही 'प्रवाह पुष्टि' के नाम से प्रख्यात है। 'मर्यादा पुष्टि' में भक्त पूजानुष्ठान के विधि-विधानों के अनुकूल प्रभु की सेवा में तल्लीन होता है। 'पुष्ट पुष्टि' में भक्त का अनुराग प्रभु में केन्द्रित हो जाता है, विधानों से उसे मुक्ति मिल जाती है। मानसी सेवा होने लगती है। 'शुद्ध

पुष्टि' में भक्त भगवान का स्वाधीन सखा बन जाता है। सख्य भक्ति को आचार्य वल्लभ और महात्मा सूरदास दोनों ने ही सर्वोपरि स्थान दिया है। भक्ति साधन की क्रम परम्परा में स्नेह आसक्ति और व्यसन का नाम लिया जाता है। स्नेह का आसक्ति में और आसक्ति का व्यसन में परिणयन होता है। इसी क्रम को लेकर तन और धन की सेवा की अपेक्षा मानस सेवा को प्रधानता प्राप्त हुई है। प्रवृत्तिमार्ग से विरुद्ध हो जाने तक का यह मार्ग अन्त में आनन्दोपलब्धि का कारण बनता है। आचार्य वल्लभ के ही शब्दों में—

ये निरुद्धाः ते एवात्र मोदम् आयान्ति अहर्निशम्।

तथा

कृष्णाधीनातु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिर्उच्यते।

आचार्य वल्लभ ने भागवत का गम्भीर अध्ययन करके अपने कुछ सूक्ष्म निष्कर्ष निकाले थे। उन्हें भागवत के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम तथा एकादश स्कन्धों पर विशेष आस्था की। इन पर उन्होंने सुबोधिनी नाम की टीका भी लिखी, पर एकादश स्कन्ध की टीका वे पाँचवें अध्याय के आरम्भ तक ही कर पाये। सुबोधिनी विद्वानों के द्वारा समाहृत है। इसमें भागवत के गूढ़ अर्थों को स्पष्ट किया गया है। महात्मा सूरदास ने अपने पदों में आचार्य वल्लभ के सिद्धान्तों को हृदयंगम करके कहाँ तक अभिव्यक्ति दी है यह गम्भीर विवेचना का विषय है। सुबोधिनी में दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध को आचार्य वल्लभ ने तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में पहले चार अध्याय आते हैं जिनका श्रीकृष्ण के जन्म से सम्बन्ध है। दूसरे भाग के चार उपविभाग हैं, जिन्हें प्रमाण-प्रमेय साधन तथा फल कहा गया है। पाँच से ग्यारह अध्याय तक का प्रमाण, बारह से अठारह तक प्रमेय, उन्नीस से पच्चीस अध्याय तक साधन और छब्बीस से बत्तीस अध्याय तक फल की मीमांसा की गई है। तीसरे उपविभाग में प्रमाण और प्रमेय नाम के दो उपविभाग हैं। प्रथम का वर्णन तैंतीस से उन्तालीस अध्याय तक है और दूसरे का वर्णन अध्याय चालीस से छियालीस तक। इसी प्रकार दशम स्कन्ध का उत्तरार्द्ध भी तीन भागों में विभक्त हैं। प्रथम के दो उपविभाग हैं—साधन और फल। अध्याय सैंतीस से तिरपन तक साधन। अध्याय चौवन से साठ तक साधन। अध्याय चौवन से साठ तक फल का वर्णन है। द्वितीय भाग के तीन उपविभाग हैं—प्रमेह, साधन और फल जो क्रमशः अध्याय इकसठ तक, अध्याय अरसठ से चौहत्तर तक और अध्याय पचहत्तर से इक्यासी तक वर्णित हैं। तृतीय विभाग से अध्याय इक्यासी से सत्तासी तक गुणों का निरूपण हुआ

है । इन विभागों में भगवान की समस्त लीलायें आ जाती हैं; जैसे भगवान प्राकट्य, ब्रज का उद्धार तथा पूतनाबध, यमानार्जुन उद्धार, पनघटलीला, परिहरणलीला, रासलीला आदि । यादव विध्वंस, सात्विक भक्तों का उद्धार और भगवान के षट ऐश्वर्यों का प्रतिपादन, भक्त का अन्तिम लक्ष्य प्रभु परायण बन जाना है । यही पराभक्ति है ।

सूर ने लीलाओं का वर्णन तन्मय होकर किया है । पराभक्ति के दर्शन भी उनकी रचनाओं में हो जाते हैं, पर आचार्य वल्लभ के तात्विक वर्गीकरण के साथ उनका हृदय एक नहीं हो सका । एक तो वह पूर्व से ही सन्यासी थे और साधक भक्तों में उनकी गणना ही नहीं प्रख्याति भी थी । पद रचना वे पहले भी किया करते थे । आचार्य वल्लभ से भेंट के उपरान्त उनकी यह शक्ति बढ़ गयी और उन्होंने लक्ष्यपद बन्दों में भगवान की लीला का मापन किया । आचार्य वल्लभ ने उन्हें सिद्धि तो करा दी, परन्तु हृदय का जो रुझान भगवान की ओर था उसमें सैद्धान्तिकता के समावेश तथा शास्त्रीयता के प्रवेश का अवसर नहीं था । यही कारण है कि आचार्य वल्लभ के तात्विक सिद्धान्त हमें उनकी रचना में उपलब्ध नहीं होते । सन्त सारग्राही होते हैं, गुत्थियों के झमेले में नहीं पड़ते । गुत्थियों का सुलझाना विदग्ध पण्डितों का काम है, सन्तों एवं भक्तों का नहीं । उनका काम तो केवल भगवत्‌रस की वर्षा करना होता है ।

द्वितीय अध्याय

सूरदास की रचनायें

महात्मा सूरदास की प्रायः सबकी सब रचनाएँ गेय पदों में हैं। दोहे और चौपाई छन्द भी यत्रतत्र मिल जाते हैं, पर प्रधानता पदों की ही है। हिन्दी-साहित्य में पद-रचना-प्रणाली पूर्व से ही चली आती थी। नाथ सम्प्रदाय और सहजिया सम्प्रदाय के सन्त भी पद बनाया करते थे। कबीर के पद प्रख्यात हैं ही। यह परम्परा सूर को अनायास प्राप्त थी। भक्ति-भावना में हृदय का अभिव्यंजन गीतियों द्वारा सुकर एवं सुगम होता है। भागवत के वेणु-गीत आचार्यों के लिखे हुये स्तोत्र, जगद्धरभट्ट की स्तुति कुसुमाञ्जलि, विल्वमंगल अथवा लीलाशुक का कृष्ण करुणामृत, जयदेव का गीत गोविन्द, विद्यापति की पदावली आदि रचनायें उदाहरण स्वरूप उपस्थित की जा सकती हैं। आचार्य सन्त एवं भक्त भारत भर का परिभ्रमण किया करते थे और उनके साथ ये रचनायें भी समग्र देश के वायुमण्डल में फैल जाती थीं। एक प्रदेश निवासी इन रचनाओं के माध्यम से दूसरे प्रदेश वासियों के निकट आते रहते थे। भाषागत तथा भावगत एकता की सिद्धि स्वयमेव सम्पन्न हो जाती थी। व्यक्तिगत मतवाद तथा रूढ़िगत दलवाद आजकल की भाँति विभिन्न संस्थाओं के निर्मायकों के रूप में दिखाई नहीं देते थे। साधुओं के सम्प्रदाय अवश्य थे पर वीतराग होने के कारण सभी ऐक्य एवं बन्धुत्व के सूत्र में आबद्ध थे। एक दूसरे की सुनते थे और समझते थे। साधुओं के ये मण्डल इस देश में ही नहीं अनेक बियावन खण्डों को पार करते हुये यात्रा सुलभ बाहनों के अभाव में भी एक ओर कश्यपसागर तक धावा बोलते थे तो दूसरी ओर श्याम की अयोध्या नगरी, कम्बोज के संगाम और त्रिविष्टप

के सूर्य विज्ञान तथा योगाश्रमों तक पहुँचते थे। साधुओं के इस आवागमन ने इस बसुधा को एक कुटुम्ब का रूप दे दिया था। आज के बाद मानवता के मार्ग में विभिन्नता की खाइयाँ खोजते हैं और पारस्परिक संघर्षों को प्रोत्साहन देते हैं; पर सन्तों के मण्डल मानवता का प्रचार करते थे। हृदय-हृदय में एकता की रागिनी को गुंजायमान करते थे और सबके विकास का मार्ग प्रशस्त तथा उन्मुख करते थे। सूर को हृदय की यह एकता परम्परा द्वारा सहज सुलभ थी। इसीलिये उनकी रचनाओं में कटूक्तियों का अभाव है। एक को दूसरे से नीचा दिखाने की प्रवृत्ति अनुपलब्ध है और जिसे हम सांसारिकता कहते हैं अथवा सामाजिकता और विषमता कहते हैं उसका प्रभाव तक दृष्टि-गोचर नहीं होता।

सूर ने अनेक ग्रंथ लिखे होंगे। उनके नाम से प्रचलित कई ग्रंथों का उल्लेख हमने 'सूर सौरभ' में किया है पर ख्याति रूप में उनके तीन ही अब तक सब की जिह्वा पर विद्यमान रहे हैं। इनके नाम हैं– १ सूरसागर, २ सूर सारावली ३ साहित्य लहरी। इन तीनों में सूरसागर ही कीर्ति का प्रमुख आधार है। है तो यह सागर पर आचार्य विट्ठलनाथ की दृष्टि में यह भव-सागर से पार करने वाला एक अद्भुत जहाज है। इसका निर्माण कर सूर की तड़फती अतृप्त आत्मा तृप्ति पा सकी थी और अब तक जो उसे पढ़ता रहा है वह भी शाँति प्राप्त कर रहा है और जब तक उसका अध्ययन जीवित है सभी उसे पढ़कर आप्यायित होते रहेंगे।

सूरसागर की कई प्रतियाँ अबतक उपलब्ध हो चुकी हैं। नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से जो प्रति प्रकाशित हुयी थी वह भ्रमात्मक थी। बेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से संबत् १९८० में जो प्रति प्रकाशित हुई वह बहुत शुद्ध थी। अब इसका एक नवीन संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है पर पदों की संख्या में अनेक अशुद्धियां हैं। इन अशुद्धियों का विवरण सूर सौरभ के चतुर्थ संस्करण के पृष्ठ १०८-१०९ पर दिया हुआ है। स्वर्गीय रत्नाकर जी ने नागरी। प्रचारिणी-सभा के तत्वाधान में सूरदास की कई प्रतियों का मिलान करके एक शुद्ध संस्करण कई खण्डों में प्रकाशित किया था परन्तु उनके निधन से यह कार्य अपूर्ण ही रह गया। उनके उपरान्त पं० नन्ददुलारे वाजपेयी ने सूरसागर का सम्पादन किया और वह दो खण्डों में नागरी। प्रचारिणी-सभा, काशी द्वारा प्रकाशित हुआ। दोनों खण्डों में दो सौ तीन सन्दिग्ध तथा सरसठ प्रक्षिप्त पद दिये गये हैं। कांकरौली वाली प्रति में पदों की संख्या इससे भी अधिक है काशी वाली साह जी की प्रति में लगभग ६ हजार पदों का संग्रह

है। शिवसिंह 'सरोज' के रचयिता ने ६० हजार पदों के देखने की बात लिखी है पर अभी तक जितने पद उपलब्ध हुए हैं उनकी संख्या सात हजार से ऊपर नहीं पहुंचती। सारावली में एक लक्ष पदबन्दों की उक्ति आती है। यदि पदबन्दों की दृष्टि से देखा जाय तो एक लक्ष पदबन्द दस हजार पदों में समाविष्ट हो सकते हैं। इतनी मात्रा में पदरचना कर लेना कोई असम्भव बात नहीं है।

सूरसागर के पद भागवत के आधार पर द्वादस स्कन्धों में विभाजित किये गए हैं, परन्तु वे सर्वांशतः भागवत का अनुवाद नहीं हैं। सूर ने इस रूप में उनकी रचना की भी नहीं होगी। सूरसागर के प्रथम स्कन्ध में आत्म निवेदन सम्बन्धी पदों की अधिकता है। हमारी सम्मति में ये पद आचार्य वल्लभ द्वारा दीक्षित होने के पूर्व ही कवि द्वारा निर्मित हो चुके थे। इन पदों में सूर के हृदय का दैन्य, कातर-क्रन्दन तथा पश्चाचताप भरा पड़ा है। ज्ञान और वैराग्य मायामोह के पाश, अज्ञान और अन्धकार संसार की असारता आदि विषय इन पदों द्वारा अभिव्यंजित होकर विकास की जिस स्थिति की सूचना देते हैं वह सूर को उच्चकोटि का संत सिद्ध करती है। ये पद मर्म–स्पर्शी हैं और सूर के हृदय की गम्भीर वेदना को प्रगट करते हैं। कुछ पद ऐसे भी हैं जिनपर भागवत के प्रथम स्कन्ध की छाया है। इन पदों में व्यास अवतार, शुकदेव की उत्पत्ति, सूत शौनक–सम्बाद, भीष्म का देहत्याग, श्री कृष्ण का द्वारका गमन, युधिष्ठिर का वैराग्य, परीक्षित का जन्म, ऋषि का शाप आदि विषय वर्णित हुए हैं। द्वितीय स्कन्ध के प्रारम्भ में भक्ति और सत्संग की महिमा भक्ति के साधन, आत्मज्ञान तथा भगवान की विराट रूप में आरती का वर्णन है। शेष पदों में भागवत के आधार पर सृष्टि की उत्पत्ति, विराट पुरुष, चौबीस अवतार, ब्रह्मा की उत्पत्ति, चार श्लोक आदि का वर्णन है। तृतीय स्कन्ध में उद्धव-विदुर-सम्वाद, विदुर को मैत्रेय से ज्ञान की प्राप्ति, सप्तर्षि, चारमनु देवासुर जन्म, वाराह औतार, कर्दम देवहूति का विवाह, कपिलमुनि का अवतार, भक्ति की महिमा और देवहूति को हरिपद की प्राप्ति आदि का वर्णन भागवत के तृतीय स्कन्ध के अनुसार है। कुछ विषय ऐसे हैं जो भागवत से अधिक हैं जैसे विदुर जन्म, रुद्र उत्पत्ति आदि। और कुछ विषय छोड़ भी दिये गये हैं जैसे साँख्ययोग, पुरुष प्रकृति आदि के वर्णन। सम्भव है सूरसागर की किसी अन्य प्रति में इन विषयों का वर्णन किया गया हो।

चतुर्थ स्कन्ध में भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में आये हुए विषयों का अतीव

संक्षिप्त किन्तु मार्मिक वर्णन है यथा यज्यपुरुष अवतार, पारवती विवाह, ध्रुव कथा, पृथु अवतार तथा पुरंजन आख्यान। इसी प्रकार पंचम स्कन्ध में भृषभ देव, जड़भरत आदि की कथा, भागवती कथा का संक्षिप्त रूप है। षष्ठ स्कन्ध में भागवत के आधार पर अजामिल, वृहस्पति, वृत्रासुर, इन्द्र आदि की कथाएं वर्णित हुई हैं। सप्तम स्कन्ध में नृसिंह का अवतार आगमन के आधार पर वर्णित है। परन्तु शिव और नारद की कथाएं-भागवत से अधिक हैं आठवें स्कन्ध में गजेन्द्र मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र मन्थन, बामन तथा मत्स्य के अवतारों का वर्णन है भागवत के ही अनुसार परन्तु संक्षिप्त रूप में है।

नवम् स्कन्ध में भागवत के अनुसार राजा पुरुरवा और उर्वशी का उपाख्यान, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर विवाह, राजा अम्बरीष और सौभरि ऋषि के उपाख्यान गंगावतरण परशुराम और अंत में रामावतार का वर्णन है। भागवत के इस स्कन्धमें राम की कथा संक्षेप में कह दी गई है परन्तु सूरसागर में उसका विस्तार पूर्वक वर्णन पाया जाता है। इसी स्कन्ध में नहुष तथा कच देवयानी की कथाएँ भी विस्तार से वर्णित हैं। गौतम-अहिल्या की कथा भागवत के नवम् स्कन्ध में नहीं है। नागरीप्रचारिणी-सभा वाले सूर-सागर के संस्करण में यह कथा छठे स्कन्ध में समाविष्ट है। इस स्कन्धमें राम के बालरूप का वर्णन सूर की प्रवृत्ति के अनुकूल ही है। सीता का विरह-वर्णन भी अतीव मर्मस्पर्शी है।

दशम स्कन्धसूरसागर का सर्वस्व है और उसमें चार सहस्त्र से भी अधिक पद हैं। सूर की समस्त कीर्ति का आधार यही स्कन्ध है। सूर की काव्य-प्रतिभा, कमनीय कला,भावुकता, व्यंग् एवं विदग्धता सभी इस स्कन्ध में अपनी चरमसीमा का स्पर्श कर रहे हैं। भागवत में भी यह स्कन्ध सबसे बड़ा है। सूरसागर में इसके दो भाग हैं- पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में जन्म से लेकर कंसवध पर्यन्त सभी बाल-लीलाओं का वर्णन है। सुप्रसिद्ध 'भ्रमरगीत' भी इसी के अंतरगत है, जिसमें सूर ने गोपियों के विरह का अतीव हृदयद्रावक चित्र खींचा है। और उद्धव प्रसंग के व्याज से निर्गुण पर सगुण, योग पर प्रेम और ज्ञान पर भक्ति की विजय-पताका प्रतिष्ठित की है। प्रेम सूर की भावना का प्रधान क्षेत्र है और उसके सभी रूपों का उसने अतीव विस्तृत एवं प्रभावशाली, मार्मिक वर्णन किया है। सूर ने प्रेम तत्व को लौकिक और आध्यात्मिक दोनों रूपों में प्रस्तुत किया है।

भागवत में दशम स्कन्ध दो भागों में विभाजित है। इसके विषयों का जो तात्विक विश्लेषण आचार्य वल्लभ ने किया है उसकी ओर पहले ही संकेत कर चुके हैं। सूरसागर में उत्तरार्द्ध का भाग भागवत की भाँति वृहत आकार का नहीं है। इसके केवल एक सौ अड़तालीस पद हैं, जिनमें जरासन्ध से युद्ध द्वारका निर्माण, कालयवन दहन, द्वारका प्रवेश, रुक्मिणीहरण, प्रद्युम्न का जन्म, सत्यभामा और जामवन्ती से विवाह भौमासुर बध, प्रद्युम्न विवाह, ऊषा अनिरुद्ध कथा, जरासन्ध, शिशुपाल, शाल्व, दन्तवत्र, और बल्वल का बध, सुदामाचरित्र, कुरुक्षेत्र में पुनः गोपी आदि से मिलन आदि विषयों का वर्णन भागवत के ही अनुसार है। ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव बदरिका आश्रम गमन, नारायण अवतार तथा हंसावतार का वर्णन है। भागवत के इस स्कन्ध में ज्ञान-भक्ति, वैराग्य आदि अनेक विषयों का गम्भीर प्रतिपादन किया गया है। आचार्य वल्लभ की दृष्टि में भी यह स्कन्ध अत्यन्त महत्वपूर्ण था परन्तु सूरसागर में गम्भीर विवेचन कैसे किया जाता। क्या भावना उसे सहन कर पाती? दर्शन अपने स्थान पर महनीय है, पर साहित्य का तो आधार ही भाव है। वह दर्शन को भी आत्मसात करता है, पर अपने रूप में साहित्य में ज्ञान भावको अपने सिरपर रख लेता है। भाव वहाँ पर रथी है तो दर्शन उसका रथ, हृदय धनी है तो विश्लेषण उसका बाहन। छान्दोग्य ने इसी लिये साम को ऋचाओं पर आरूढ़ कर दिया है। साहित्य में भाव का साम्राज्य है, विवेचन का नहीं।

सूरसागर के बारहवें स्कन्ध में बुद्धावतार कल्कि अवतार और राजा परीक्षित तथा जनमेजय की कथाएँ हैं।

सूरसारावली

इसके प्रारम्भ में मंगलाचरण का पद है। जो कतिपय शब्दों के परिवर्तन के साथ सूरसागर के प्रारंभ में भी पाया जाता है। सारावली का प्रारंभ निम्नांकित पंक्तियों से होता है——

> अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी।
> पूरण ब्रह्म प्रकट पुरषोत्तम नित निज लोक विलासी॥

सम्पूर्ण सारावली अन्तः तथ्यों के अनुशीलन करने पर एक वृहत होली-गान प्रतीत होती है। यह निम्नांकित पंक्ति से सिद्ध होता है:—

खेलत यह विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो, वेद विदित यह बात । यह पंक्ति छन्द संख्या ग्यारह सौ चार के पश्चात फिर दोहराई गई है। छन्द नं० १६ भी इस तथ्य का अनुमोदन करता है:—

आज्ञाकारी नाथ चतुरानन करौ सृष्टि विस्तार
होरी खेलन की विधि नीकी रचना रचे अपार ।।

छन्द संख्या ३५९ में लिखा है—

यह विधि होरी खेलत खेलत बहुत भाँति सुख पायो ।
धरि अवतार जगत में नाना भक्तन चरित दिखायो ।।

होली का निर्देश सारावली के अन्य छन्दों में भी है। होली के पर्व पर जो फाग गाये जाते हैं उनकी टेक और तान बिल्कुल वैसी ही होती है जैसी ऊपर उद्धृत पंक्ति में प्रकट हो रही है। सारावली के ग्यारह सौ सात छन्द होली के इस वृहत ज्ञान की कड़ियाँ मात्र हैं। सारावली में पुरुषोत्तम, वृन्दावन, कुंजलता, कालिन्दी, सारसहंस, गोवर्धन पर्वत, सृष्टि रचना, ब्रह्मा सतरूपा ,स्वायंभू बाराह अवतार, कपिल सात लोक नव खण्ड महाद्वीप, चौबीस अवतार आदि विषयों का मनोरम वर्णन हुआ है। रामावतार के वर्णन में राम के बालरूप के प्रति सूर के हृदय की ममता विशेष रूप में अभिव्यक्त हुई है। सूर के राम और सीता भी होली खेलते हैं, जिसका वर्णन छन्द संख्या ३०९ से ३१३ तक है। सारावली में सूर ने महात्मा बुद्ध को पाखण्ड का खन्डन करने वाला लिखा है। छन्द संख्या ३६० में कृष्णावतार की गाथा प्रारम्भ हुई है और उसमें कृष्ण सम्बन्धी प्रायः सभी बातें आ गयी हैं। सारावली भागवत और सूरसागर दोनों की सारसूची प्रतीत होती है। छन्द संख्या ११०३ में सूर ने इसे हरिलीला का सार भी कहा है। सारावली में कौरव-पाण्डव-युद्ध की कथा संक्षेप में वर्णन की गई है। उसमें माखन-चोरी, दधि-दान-मान आदि की लीलायें भी आ गई हैं। दृष्टकूटों का भी उल्लेख है। राग-रागिनियों के नाम भी पाये जाते हैं। चौरासी कोस की परिक्रमा वाले व्रज के बनों का भी वर्णन है। सूर ने भगवान की शश्वत लीला को ही सब कुछ माना है। इस के अतिरिक्त अन्य सब भ्रम मात्र है।

साहित्यलहरी

इस का निर्माण सं० १६२७ में हुआ। इसके विषय विकीर्ण हैं। जहाँ इस में बाल—लीला के पद हैं, वहाँ संयोगिनी एक वियोगिनी स्वकीया एवं

परकीया नायिकाओं के भी चित्र हैं। श्लेष के आधार पर अलंकारों का भी निरूपण किया गया है। इस की शैली दुरूह है, जिसमें दृष्टकूटों की भरमार है। दृष्टकूटों का अर्थ लगाने में कठिनाई पड़ती है। अलंकारों में यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति, मुद्रा, अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा अन्योक्ति आदि अर्थ दुरूहता उत्पन्न करने के लिये प्रख्यात हैं। साहित्य में प्रयुक्त कुछ शब्द अपने वाच्यार्थ को छोड़ कर विशिष्ट अर्थों में रुढ़ हो गये हैं; जैसे दधि-सुत चन्द्र के अर्थ में शैलतनया पार्वती के अर्थ में। कहीं कहीं शब्द साम्य नवीन अर्थ की उद्भावना कर देता है। जैसे मास महीने का द्योतक बन जाता है। कुछ शब्द सख्या विशेष का भी अर्थ देते हैं, जैसे विधु से एक संख्या तथा ग्रह से नौ संख्या। साहित्यलहरी में दृष्टकूटों के ऐसे चमत्कार पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। ऐसे दृष्टकूट–पद विश्व के अन्य किसी साहित्य में कदाचित ही हों।

साहित्यलहरी के प्रत्येक पद में किसी न किसी अलंकार का निर्देश अवश्य है। अलंकारों की परिपाटी हिन्दी में चन्द्रवरदायी के समय से ही चल पड़ी थी। आचार्य विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण से रसभेद के साथ नायिका भेद भी प्रारम्भ हो गया था। साहित्य लहरी में ये दोनों बातें विद्यमान हैं। गुह्य बातों को दृष्टकूट के रूप में प्रकट करने की प्रणाली भी प्राचीन है। विद्यापति की पदावली, कबीर की उलट बासियां अमीर खुसरो की पहेलियां नाथ पंथियों के कतिपय छन्द एवं पद, रासो के श्लेष, महाभारत के गूढ़ार्थ, वेद के सम्प्रश्न आदि दृष्टकूट शैली से मण्डित हैं। गोस्वामी तुलसीदास की सतसई में भी कई दोहे दृष्टकूट शैली के हैं। जो उद्देश्य इन काव्यों के दृष्ट-कूटों में है लगभग वैसा ही सूरदास की साहित्य लहरी के दृष्टकूटों का है। जो विद्वान सारावली और साहित्यलहरी को सूरदास की रचना स्वीकार नहीं करते उन्हें 'सूरसौरभ' में "सूरदास के ग्रन्थों की एकता" शीर्षक प्रकरण को पढ़ना चाहिये। सूरदास के पदों में सूर, सूरज, सूरदास, सूरजदास और सूरश्याम नाम आये हैं। यह भी एक ही कवि के कई उपनाम हैं, जिनका नाम विवेचन 'सूरसौरभ' तथा 'सूरदास' और 'भगवद् भक्ति' नाम के ग्रन्थों में हमने किया है।

तृतीय अध्याय

काव्य-वैभव

काव्य का प्रमुख चिन्ह भाव-परायणता है। काव्य-कला भाव पर ही आधारित है। भाव स्वयं एक संगीत है जो चर एवं अचर सभी को प्रभावित करता है। शिक्षित अर्धशिक्षित तथा अशिक्षित सभी भाव के प्रति आकर्षित होते हैं। संगीत में भी यह तत्व विद्यमान है। उस का भी आकर्षण अनुपम है। संगीत लहरी मृग एवं सर्प तक को मुग्ध कर देती है। स्वरों का विशेष क्रम में आवद्ध होना एक ऐसी लय उत्पन्न करता है जो भाव की ही रूपान्तर मात्र है। काव्य भी संगीतमय होता है। नपे तुले छन्दों में राग एवं रागनियों में जो समस्वरता संगीतात्मकता है अथवा भावमयता है वह चराचर को अपने आकर्षण पाश में क्यों आवद्ध कर लेती है? कहा जाता है कि संगीत एवं काव्य जाग्रत को सुप्त एवं सुप्त को जाग्रत कर सकते हैं। 'साम' का संगीत अपने देश में प्रख्यात रहा है और परवर्ती संगीत में भी वायु को स्तब्ध तथा दीपक को पृज्जवलित कर दिया है। श्रावण में मल्हार गाये जाते हैं, उन कीं स्वरावलि आकाश की स्वरावलि के साथ यदि एक सम हो गयी अथवा उसे प्रभावित कर सकी तो पूर्व विद्यमान परिस्थिति में परिवर्तन अवश्य कर देगी। विज्ञान अन्तरिक्ष में प्रवाहित प्रकाश लहरों तथा ध्वनि लहरों से आज हमें परिचित करा रहा है, अतः संगीत और काव्य से उत्पन्न प्रभाव की वैज्ञानिक परीक्षा भी की जा सकती है। दार्शनिक दृष्टि से हम भाव को निरिवल निर्मित का मूल कह सकते हैं। यह भाव रस का जनक है, आनन्द का उत्पादक है, ऐसा अभी तक सभी आचार्य स्वीकार करते रहे हैं। आनन्द-वाद शैव सम्प्रदाय का ही नहीं सभी आगमों का एक मात्र अंतिम लक्ष्य है।

भट्टप्रवर महाकवि भवभूति के शब्दों में वाणी अर्थ का अनुधावन करती है। भाव या विचार जहाँ कहीं होंगे, वाणी उन के साथ अनुचर की भाँति लगी रहेगी। कुछ विद्वानों को अनुचरता खटकती है वे भाव और वाणी दोनों को एक दूसरे में सम्पृक्त हुआ अनुभव करते हैं। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के प्रारम्भ में जगत के पितर पार्वती और परमेश्वर को शब्द और अर्थ से उपमित किया है। वस्तुतः वाणी का परारूप, जिसे मूल उत्स भी कह सकते हैं शब्द और अर्थ के सम्मिलित रूप का ही नाम है जिसे किसी परिभाषा के अभाव में—अनिर्वचनीय ही माना जायगा।

वचनीयता वाणी के पश्यन्ति रूप से प्रारम्भ होती है और अव्याकृत से व्याकृत अनिरुक्त से निरुक्त तथा निर्वचनीय से वचनीय बनती जाती है। यह साम्यावस्था से विषमता की ओर तथा एकता से अनेकता की ओर प्रमाण है। काव्यगत शब्दों की अनेकरूपता एवं विभिन्नता जहाँ हमें विविध भावों एवं विचारों का बोध कराती है वहाँ काव्य की भावात्मकता हमें विषमता एवं नानारूपता से हटा कर उस साम्यावस्था की ओर भी ले जाती है जहाँ विशुद्ध चैतन्य है, एकान्त आनन्द है, जहाँ वृक्ष–वृक्ष नहीं, दीपक–दीपक नहीं, वर्षा–वर्षा नहीं, मृग–मृग नहीं, सर्प–सर्प नहीं, पक्षी–पक्षी नहीं और मनुष्य–मनुष्य नहीं, एक शब्द में जो रस की स्थिति है अथवा आनन्द की व्यवस्था है।

भाव अथवा लयमयता पद्य में ही नहीं गद्य में भी हो सकती है, पर यह गद्य साधारण गद्य से भिन्न होता है। साधारण गद्य उस प्रभाव से वंचित है, उस आकर्षण से शून्य है जो उसके विशिष्ट रूप गद्य काव्य का प्रमुख चिह्न हैं। वाणभट्ट की 'कादम्बरी' अथवा हर्षचरित का गद्य वैखानस आगमों का गद्य नहीं है। विज्ञानेश्वर अथवा रघुनन्दन के निबन्ध आप को विचार दे सकते हैं, भाव नहीं। वाणभट्ट ने गद्य का प्रयोग किया है, पर वह भाव गद्य है और इसीलिये उसे गद्य–काव्य की संज्ञा दी जाती है। कोरा पद्य भी प्रभाव शून्य होता है। उसकी पद्यात्मकता, छन्दोबद्धता, नियमित वर्ण मात्रात्वकता थोड़ी देर के लिये कानों को भले ही आकर्षित करले पर भाव के अभाव में मन को आकर्षित नहीं कर सकेगी।

काव्यगत शब्द सभी दशाओं में सामानरूप से प्रेमविष्णु नहीं होते हैं, कवियों का शब्द–भण्डार एक समान होता है। सब को अपनी–अपनी अर्जित सम्पदा है, सबका अपना–अपना शील एवं संस्कार है। शब्द सम्पदा एक

भाव-सम्पदा जिस कवि के पास जितनी अधिक है, उतना ही वह कवि समर्थ एवं शक्तिशाली है ।

कुछ कवि आगे बढ़ते हैं, कुछ ऊँचे उठते हैं, कुछ गहराई में प्रवेश करते हैं और कुछ उस गहराई से मोती ढूँढ़ लाते हैं । आगे बढ़ना शब्द सम्पदा विचार-वैभव एवं भाव-प्रवणता का अर्चन करना है, ऊँचे चढ़ने में अर्थदीप्ति, भणित भंगिमा तथा कला वैदग्ध्य की उपलब्धि है और गहरे घुसनें में रसवत्ता है । जो कवि गहराई में प्रवेश करता है उसके विमल विचार एवं भव्य भाव सर्वोत्तम शब्दों द्वारा ही अभिव्यक्त होते हैं । वहाँ आप शब्दों से भाव को और भाव को शब्दों से पृथक नहीं कर सकते । कोशों के शब्दों में वहाँ श्रेष्ठ भावों की कुशलतम अभिव्यक्ति होती है । जिसे हम कवि की छाप कहते हैं वह ऐसी ही काव्यों में देखी जा सकती है और गहराई में जाकर मोती ढूँढ़ लाने वाले बहुत ही थोड़े कवि होते हैं । हमारे सूर ने गहराई में ढूँढ़कर खूब मोती ढूँढ़े हैं ।

महाकवि सूरदास के काव्य-वैभव की परीक्षा जिन मनीषियों ने की है वे सब समवेत स्वर से भाव विभव ही नहीं, उनकी शब्द सम्पदा की भी प्रशंसा करते हैं । स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में सूर में जितनी भाव-विभोरता है, उतनी ही वाग्विदग्धता भी ।" वात्सल्य एवं विप्रलम्भ शृंगार के तो वे अद्वितीय कवि हैं । वात्सल्य भाव का तो वे कोना-कोना झाँक आये हैं और विप्रलम्भ के क्षेत्र में उन्होंने जिस भाव दशाओं का उल्लेख किया है उसमें से अनेक दशाओं का आचार्यों को नामकरण करना पड़ेगा । यह प्रशस्ति सब कवियों के भाग्य की बात नहीं है । सूर की शब्द सम्पदा भी अतुल है । शब्द-सम्पदा के साथ-साथ उनका प्रयोग भी अभूतपूर्व है, एक ही बात को वे न जाने कितने रूपों में उपस्थित करने की क्षमता रखते हैं । एक बात को कहने के न जाने उन्हें कितने ढंग आते हैं । आचार्य कुंतक की वक्रोक्ति गरिमा पर विचार करें तो सूर की रचना में उसके विपुल उदाहरण देखने को मिलेंगे । शब्द-सम्पदा एवं भाव-विभव का ऐसा धनी कवि किसी जाति को भाग्य से ही मिलता है । और विश्व में कभी-कभीही अवतार लेता है ।"

(अ) शब्द-सम्पदा

जब हम शब्द और अर्थ की बात करते हैं तब कवियों के कलानैपुण्य के विश्लेषणों में सर्वप्रथम शब्दों की मीमांसा करनी पड़ती है । सूर की शब्द-

सम्पदा अपरिमित है। वे व्रज में रहते थे, अतः व्रजभाषा के शब्दों तथा उनके प्रयोगों से परिचित होना उनके लिए स्वाभाविक था। परन्तु इसका अर्थ यह न था।

अन्य बोलियों के शब्द-व्यवहार से अपरिचित थे वैसे तो समग्र देश एक ऐसी बोली से परिचित रहा है जिसे हम भाषा-विज्ञान के शब्दों में राष्ट्रभाषा कहा करते हैं। प्राकृत काल में भी यद्यपि महाराष्ट्री 'प्राकृत' शौरसेनी प्राकृत से भिन्न मानी जाती थी, परन्तु उसकी विभिन्नता स्वल्प मात्रा तक ही सीमित थी। शेष शौरसेनीवत कह कर आचार्य वररुचि ने इस भाषागत ऐक्य की घोषणा कर दी है। भारत के मध्यदेश की भाषा न जाने कब से भारत की राष्ट्रभाषा का कार्य करती आ रही है। प्राकृत से पूर्व पाली और पाली से पूर्व संस्कृत इसी माननीय कार्य की वहिकायें रही हैं। अपभ्रंश युग में हम राजनैतिक दृष्टि से कई खण्डों में विभक्त थे पर संस्कृति दृष्टि से पूर्व की ही भाँति एक बने हुए थे और उस संस्कृति की वाहिका मध्यदेश की ही भाषा थी। व्रजभाषा अपने रूप में व्रज से बाहर भी व्याप्त थी। राजस्थान की मीरा, गुजरात के नरसी मेहता, महाराष्ट्र के नामदेव तथा बंगाल की 'व्रजवूलि' में रचना करने वाले सभी व्रजभाषा से परिचित और उसमें काव्य का निर्माण करने वाले हुए हैं। प्रान्तीयता का मोह आज भले ही प्रबल हो पर वह उन दिनों नहीं था। जायसी के पद्मावत को आज की वैज्ञानिकता भले ही अन्य भाषा में लिखित प्रमाणित करे पर वह देश की सामान्य राष्ट्र के निकट ही है। विश्लेषण पद्धति रामचरित मानस को अवधी का काव्य कहती है पर उसका जितना समादर अवध में है उससे कहीं अधिक व्रज में है और यदि हम पंजाब, राजस्थान आदि की बात करें तो वहां भी वह उतनी ही मात्रा में प्रचलित दिखाई देगा। राष्ट्रभाषा अथवा सांस्कृतिक भाषा एक विशेष आधार को लेकर प्रचलित होती है और आगे बढ़ती है, परन्तु अन्य प्रदेशों में प्रचलित शब्दावली को भी अपने साथ लिए रहती है। अपने रूप में वह सर्वमान्य होती है। व्रजभाषा का यही सर्वमान्य रूप था। उसके शब्द कई श्रोतों से निकल कर एक में समाविष्ट हो गए थे। माँस को गोश्त या कलिया कहना सभी जानते थे, खाना, भोजन, व्यंजन, आहार-प्रसाद आदि शब्द सर्व परिचित थे। उनके उच्चारण में जलवायु के प्रभाव को अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा। पर वह लिखित साहित्यिक रूप में समेकन की ओर ही अधिक जायगा, वैभिन्य की ओर कम।

'सूरसागर' की शब्द श्री देश-भाषा की इसी कान्ति से प्रदीप्त है।

व्रजभाषा सूरसागर की रचना द्वारा विशुद्ध साहित्यिक रूप को प्राप्त हुई ऐसा सूर साहित्य के अनेक पारखी विद्वानों का मत है । सूरदास के पूर्व वह साधुओं द्वारा राष्ट्रभाषा के रूप को तो प्राप्त कर चुकी थी पर साहित्यिक रूप उसे सूरदास द्वारा ही उपलब्ध हुआ । व्रज की चलती बोली संस्कृत के तत्सम शब्दों से समन्वित कर के सूर ने व्रजभाषा का जो रूप खड़ा किया, वह अपनी मसृणता कोमलता, माधुर्य एवं भावप्रवणता के कारण अवध बिहार, बंगाल, पंजाब था। दक्षिण पथ के कवियों का कण्ठहार बन गई । इस देश में लगभग चार सौ वर्षों तक राष्ट्रभाषा के इस रूप ने कवियों की जिह्वा पर शासन किया, उसमें पद्य तथा गद्य दोनों ही प्रभूत मात्रा में लिखे गये हैं । पुष्टि सम्प्रदाय का वार्ता-साहित्य इसी भाषा में है । उन दिनों के कुछ प्रबन्ध, टीका विवृति एवं भाष्य भी व्रजभाषा गद्य में ही लिखे गये हैं ।

(आ) व्रज के प्रचलित शब्द

सूरसागर में व्रजभाषा के प्रचलित शब्दों का आधिक्य है । इन शब्दों में जो आँचलिक सौन्दर्य अन्तर्हित है उसे व्रजवासी सुगमता से अनुभव कर सकते हैं । नीचे हम सूरसागर में प्रयुक्त ऐसे शब्द उधृत कर रहे हैं जो व्रज-प्रदेश और उसके आसपास प्रचलित हैं ।

दुर—पुरुषों के कान का आभूषण, लरिक सळोरी—लड़कपन, बरै—जल जावै, छाक—कलेऊ, मट्ठा आदि के साथ अल्प भोजन, भौड़ा—छोटा लड़का, भौराचक डोरी—बच्चों के लिए खिलौने, लरिकिनी—लड़की, करिया —छोटी लड़कियों का कमर के नीचे वस्त्र, झारी—लोटा, अचगरी नटखटपन वोदे—गीले—भीगे हुए, नाऊँ—नाम, जाखु—पूजा, उछइहौं—गहरा,झकाझक, गिडरी-शिर पर घड़ा रखने की मूँज की बनी गोल वस्तु,ग्वेड़े—ग्राम के पास, पैड़े—मार्ग, खोही—किसी वस्तु या नरई का बना हुआ शिर ढ़कने का साधन खोहिया जिसे वर्षा में कृषक या मजदूर लगा लेते हैं, खुबेरे—खुपरना, अकारण छेड़ना, अवसरे-देरसखा—मिट्टी का पात्र, ऐसी—इस वर्ष, कनियाँ—गोद, के बच्चे को कन्धे पर बिठाना, तनक—छोटा, थोड़ा पैड़े परयो—पीछे पड़ना, भौतेरे--अनेक, बाखरि--घर ढौरी—चश्का, आरगोना--भोजन करना,करीवति --खरोचना अमात--समाजाना इत्यादि ।

(इ) संस्कृत शब्द

किसी बोली को साहित्यिक भाषा का परिमार्जित रूप देने के लिए

आवश्यक होता है कि उसमें प्राचीन देश काफी तथा परम्परा ग्रहीत शब्दों का प्रयोग हो। भारतवर्ष में संस्कृत भाषा इसी प्रकार की भाषा थी। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने अपने कलेवर की श्री समृद्धि इसी भाषा के शब्दों को अपना कर की है। सूर-सागर में संस्कृत भाषा के तत्सम एवं तद्भव दोनों ही रूपों में प्रयुक्त हुए हैं।

(१) तत्सम शब्द

गिरिधर, गजधर, माधव, मुरलीधर, पीताम्बरधर, शंख-चक्रधर, गदापद्मधर, मुकुटधर, अधर सुधाधर, कम्बुकन्ठधर, कौतुभ मणिधर, गोपवेश परागमेद्य, मुकुलित, अम्ब, कदम्ब, मुनि, मधुप, अज्ञ, शिव, अम्बुज, अभिराम, अजिर, अपरिमित, आयुध, कलभ, दारा, दम्पति, निरालम्ब, नृपति, पिनाक पन्नम, रसना, राका, वसुधा, सरसिज, हाटक आदि।

(२) तद्भव शब्द

अवजस' कलेस, जनम, परतीति, भरमत, मारग, मरजाद, स्वान, उछंग, अँचरा, खिन, घरनी, खइ, चबाई, जीभ, तरुनाई, दूव, पाँवरी, भौन, सजनी,मीत, साँवरो, छीको, बोहनी आदि।

किसी भाषा में व्यापकता लाने के लिए आवश्यक होता है कि उसमें अन्य सहयोगिनी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया जावे, सूरसागर में फारसी, अवधी, पँजाबी, गुजराती आदि कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुसलमानी शासन अपने साथ विदेशी शब्दों को लाया जिनमें अरवी फारसी एवं तुरकी शब्दों की भरमार थी। यथा खसम, जवाब, सजा, बकसौ, मवास, खवास, मसक्कत, जहाज, सरताज, दामनगीर, मुहकाम बाज, नफा, ख्याल, नाहक, खर्च, लायक, बजार, गरीब, खाक, दृढ़, खबर, जहर, फौज।

अवधी के शब्दों में खोइस, हीइस, मोर, तोर, कीन, केरों आदि का प्रयोग है। गुजराती भाषा के बिब एवं सच शब्दों का प्रयोग सूरसागर में मिलता है और ए शब्द अपनी परम्परा में सुदूर वैदिक काल तक जाते हैं। वेद में सचत्व तथा सतश्च, असतश्च विव प्रयोगों में ये शब्द विद्यमान हैं। विव शब्द का एक रूप अपने वेद कालीन अर्थ में ही फ्रेन्च भाषा में भी अभी तक जीवित है। यह है Bevue जिसका अर्थ है Two sight दो दृष्टियाँ

वेद, गुजराती, व्रज तीनों में ही विव शब्द का अर्थ दो होता है।

पंजाबी भाषा की प्यारी शब्द मूल्यवान अर्थ में सूरसागर में प्रयुक्त हुआ है। बुन्देलखण्डी के गहिंबी, साहबी आदि शब्द भी यत्र-तत्र आ गये हैं। पुराने पड़े हुए प्राकृत के सायर जैसे शब्द भी प्रयुक्त हो गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि व्रजभाषा जैसी व्यापक भाषा को सूर ने उसे व्यावहारिक बनाने के साथ साहित्यक रूप भी दे दिया।

छन्दों में भाषा सीमाबद्ध हो जाती है। तुक मिलाने के लिए छन्द की गति को स्थिर रखने के लिए तथा गति आदि दोषों को दूर करने के लिए प्राचीन आचार्यों ने 'अपिभाषम् भषम् कुर्यात, कहकर शब्दों के तोड़-मरोड़ की छूट दे रक्खी है। सूर ने इस मुक्त्यादेश से लाभ उठाया है। उन्होंने पंगु को पंग, नवनीत को लवनी, केतु को केत, गो को गइया, वर्ष को वारीस, राजसूय को राजसू, गमन को गेल, देवकी को दैवे आदि कर दिया है।

सूर के हृदय में भावधारा बड़े वेग से प्रवाहित होती थी। उसका प्रभाव असंदिग्ध रूप से भाषा पर ही पड़ा है। सूर की भाषा प्रभावमयी है। यह प्रवाह स्वतः भाव के उमड़ने के साथ प्रकट हो गया है। इसके लिए सूर को सोचना नहीं पड़ा। भाषा का इन भावों के पीछे-पीछे दौड़ना पड़ा है। नीचे लिखे पद भाषा का वेग और उस वेग के साथ-साथ चित्र अपने आप खड़ा हो जाता है।

भहरात झहरात दावानलन आयो।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अदोर बन, धरनि आकाश चहुँ पास छायो।
बन बांस थहरात कस काँस, जरि उड़त है माँस अति प्रबल धायो।।
झपटि झपटत, लपट, फूलफल चट चटकि फरत, लट लटकि द्रुम-दम नवायो।
वरन बनपात, भहरात, झहरात, अररात तरु मट्ठा धरनी गिरायो।।

पद में भाषा की द्रुतिगति देखते ही बनती है। भाव चित्र भी बिना किसी अवरोध के मानस चित्रपट पर प्राँजलता के साथ अंकित हो जाता है।

(ई) ध्वन्यात्मक शब्द, लोकत्तियाँ तथा मुहावरे

किसी भाषा को सजीव बनाने के लिए उसमें ध्वन्यात्मक शब्दों का मुहावरों और लोकोत्तियों का प्रयोग आवश्यक समझा गया है। सूरसागर

में ये विशेषतायें पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं। इनके प्रयोग से विचार एवं भाव संप्राण हो गये हैं। नीचे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

अपनो पेट दियो तैं उनको। दाई आगे पेट दुरावति।
कौरे लागौ होयगो कितहूँ। की गुरु कहो कि मोने छाड़ो॥
कहन लगी अब बढ़ि बढ़ि बात, हम तन मन दै हाथ बिकानी
मो आगे को छोहरा जीत्यो चाहै मोहि।
छठि आठै मोहि कुंवर सो, बहुतै मूढ़ चढ़ायो।
धुर ही तैं खोटो खाग्रो है। मन की मन ही मांहि रही।
लादि खेप गुन ज्ञान जोग की, व्रज में आय उतारी।
तुम चाहति हो गगन तरैया, मांगे कैसे पावहु।
मथुरा हूँ तें गये सखीरी अब हरि कारे कोसन।
जीवन मुंह चाही को नीको! एक डार के तोरे।
खेलन अब मेरी जाति बलैया, कहा ठगीसी ठाड़ी ढोल बजाय ठगी
कत पट पर गोता मारत हो निरे भूड़ के खेत।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिर जहाज पर आवै।
ताको केस खसै नहि सिर ते जो जग बरै परै।

नीचे की पंक्तियों में ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से कितनी सजीवता, कितनी प्रौढ़ता और कितनी चित्रात्मकता आ गई है:—

आजु ही चटक भई तू न्यारी।
अटपटाय कल बल करि बोलत।
गगन मेघ, गहरात, पहरातगात चपला चमचमाति।
चमक नभ भहरात, तरयत नभ, डरपत ब्रज लोग
घहरात, तरतरात, गरति, हहरात, झरहरा, पररात, माथ नाये।
छटकत मुकुट मटक भौहनि की चटकत चलत मन्द मुसकात।

इन पंक्तियों के शब्द अपने आप बोल रहे हैं। वे सजीव हैं। रूप-चित्र, तथा भावचित्र अंकित होता है। वह पाठकों के मन को बरबस अपनी ओर खींचने की शक्ति रखता है।

(ङ) वृत्ति और गुण

साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने शब्दों में वृत्तियों और गुणों का भी आधार स्वीकार किया है। वृत्तियां तीन हैं— १ परुषा २ कोमला ३ और

उपनागरिका। इन्हीं के आधार पर ओज, माधुर्य और प्रसाद गुणों की स्थिति काव्य में निस्पन्न होती है। सूरसागर में सर्वत्र सरल, सरस तथा प्रसाद गुण-पूर्ण पदावली का ही प्रयोग हुआ है। जहाँ दृष्टकूट आये हैं वहाँ पाण्डित्य के साथ क्लिष्टता का भी समावेश हो गया है। अन्यत्र उनकी रचना अत्यन्त प्रसन्न शैली में ही अभिव्यक्ति हुई है। जहां अलंकार भी आये हैं, वहां वे अर्थ स्पष्टीकरण में व्यवधान नहीं बनते अपितु सौन्दर्य उपस्थित करते हैं।

नीचे वृत्तियों तथा गुणों के उदाहरण दिये जाते हैं:—

(क) परुषावृति और ओजगुण—

गुप्त गोप कन्या वृत पूरन दुष्टन दुख भक्तन दुख चूरन।
शंख चूड़ चाणूर सहोरन शक्र कहे मोहि रक्छा करन॥

(ख) कोमलावृति और माधुर्य गुण—

नवल निकुंज, नवल नवला मिलि नवल निकेतन रुचिर बनाये।
विलसत विपिन विलास विविधवर वारिज वदन विकच सचुपाये।

(ग) उपनागरिकावृति और प्रसादगुण——
रघुपति प्रबल पिनाक विभंजन, जगरित जनक सुतामनरंजन।

गोकुलपति गिरधर गुनसागर, गोपी रमन रास रति नागर।

ऊ. शब्दशक्तियां

साहित्य मनीषियों ने शब्दशक्तियों का विभाजन शब्दों के अर्थों को ध्यान में रख कर किया है। काव्य में जिन शब्दों का प्रचलित अर्थग्रहण करने से काम चल जाता है उनमें अभिधाशक्ति मानी जाती है और उनसे जो अर्थ निकलता है उसे वाच्यार्थ कहा जाता है। जब शब्द प्रचलित अर्थ को छोड़ कर किसी निकटवर्ती अर्थ को प्रकट करता है तब उसमें लक्षणशक्ति मानी जाती है और उस से प्रकट हुए अर्थ को लक्ष्यार्थ की संज्ञा दी जाती है। और जब न तो शब्द के वाच्यार्थ से काम चलता है और न लक्ष्यार्थ से, तब शब्द व्यंजनाशक्ति के सहारे किसी व्यंग्यार्थ को प्रकट करता है। कवियों की रचनाओं में शब्द की तीनों शक्तियों का व्यवहार होता है। विवेचन की दृष्टि से सभी आचार्य इस विषय में एक मत नहीं हैं। किसी-किसी ने अभिधा और लक्षणा दो शब्द शक्तियों को ही प्रधानता दी है

और व्यंजना का समावेश लक्षणा में ही कर लिया है। इन के मतानुसार जब शब्द के वाच्यार्थ से हट कर किसी अन्य अर्थ को ग्रहण करना ही है तो वह अर्थ चाहे निकटवर्ती हो चाहे दूरवर्ती है, तो वाच्यार्थ से भिन्न ही। अतः उसे एक लक्षणा के वर्ग में ही अन्तर्युक्त क्यों न माना जाय। अन्य आचार्य इसे भी स्वीकार नहीं करते। उनके मत में अर्थ निकलता तो शब्द से ही है अतः उसे कई वर्गों में विभक्त करने की क्या आवश्यकता है। आचार्य महिम भट्ट अभिधावादी कहे जाते हैं। उनकी दृष्टि में शब्द के सभी अर्थ वाच्यार्थ हैं, फिर भी सुविधा की दृष्टि से विवेचन की गहराई में न जाकर अर्थ का तीन वर्गों में विभाजन प्रायः अब सर्वसम्मत माना जाता है। सूर की रचनाओं से इन अर्थों के कतिपय उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(क) अभिधाशक्ति

देखि सखी सुन्दर घनश्याम।
सुन्दर मुकुट कुटिल कच सुन्दर, सुन्दर भाल तिलक छवि धाम ॥

इन पंक्तियों में शब्दों का प्रचलित अर्थ ग्रहण करने से ही काम चल जाता है। अतः शब्दों में अभिधा शक्ति है और वाच्यार्थ की प्रधानता है।

(ख) लक्षणाशक्ति

मुख पर चन्द्र डारौं वारि।
कुटिल कच पर भौर वारौं भौह पर धनु वारि ॥

इन पंक्तियों में मुख पर चन्द्रमा को, वालों पर भ्रमर को और भौहों पर धनुष को न्योछावर करने का क्या अर्थ है यदि शब्दों का अर्थ प्रचलित अर्थ लिया जाय तो यह स्पष्ट नहीं होता। जिन वस्तुओं को न्यौछावर किया जा रहा है वे सौन्दर्य की विशेषता अथवा किसी विशेषता से मण्डित हैं, जैसे भ्रमर की श्यामलता और धनुष की वक्रता। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि मुख सुन्दर है, चन्द्र की शोभा उस से कम है। बाल श्यामल हैं। भ्रमर की श्यामलता से भी कुछ उच्चस्तर पर ही हैं। भौहें वक्र हैं, धनुष की वक्रता की अपेक्षा अधिक सुन्दर हैं।

(ग) व्यंजनाशक्ति और व्यंग्यार्थ

उर में माखन चोर गड़े
अब कैसेहु विकसत नाहि ऊधो तिरछे ह्वै जो अड़े ॥

जो वस्तु गड़ जाती हैं उस का निकालना कठिन है गोपियाँ तर्क द्वारा कहती हैं जो वस्तु अन्दर जाकर तिरछी हो जाय उसका निकलना तो और भी कठिन है। यहाँ गड़ने का प्रचलित अर्थ नहीं लिया जा सकता, क्योंकि कृष्ण कोई काँटा नहीं हैं और गोपियों के हृदय भी पार्थिव या मांसल नहीं हैं, कृष्ण का सौन्दर्य निराकार और गोपियों की हृद्गत भावना भी निराकार है। गड़ने का अर्थ है गोपियों के हृदय पर कृष्णसौन्दर्य के अतिशायिमत प्रभाव का पड़ना। यहाँ तक तो लक्षणा हुई। परन्तु सूर के लिखने का इतना ही तात्पर्य नहीं है, सूर तिरछे होने की बात कह कर यहाँ कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा की ओर भी संकेत कर रहे हैं अतः इसमें वाच्यसम्भवा व्यंजना है।

"अलकनि की छवि अलिकुल गावत"

भ्रमर अलकों की छवि का यशोगान कर रहे हैं। इस उक्ति में अलकों की श्यामलता तथा सुन्दरता छिपी हुई है और आर्थी व्यंजना द्वारा प्रकट हो रही है।

देखियत कालिन्दी अतिकारी।
कहियो पथिक जाय उन हरि सों भई विरह जुर जारी॥

× × ×

यमुना में रंग स्वभाव से ही नीला है। उसे कृष्ण के विरह के कारण काला कहा गया है, विरह में उत्ताप होती है। ताप में जल कर काला हो जाना स्वाभाविक है। यहाँ एक सहज रंग के कारण उद्भावना द्वारा वह रंग प्रदान किया गया है। यह कथन वाक्छल तथा हेतु अलंकार में परिगणित होगा। परन्तु अर्थ यहीं तक सीमित नहीं हो जाता, सामान्य अर्थ निबन्धना द्वारा उससे गोपियों के गौरवर्ण का श्यामल हो जाना भी व्यंग्य है और ग्रीष्म की उष्मा में जैसे यमुना की धारा कृश हो जाती है उसी प्रकार उसमें गोपियों की कृशता भी ध्वनित हो रही है।

१. शब्दों के साथ क्रीड़ा

सूर ने आचार्य वल्लभ से दीक्षित होकर जिस हरि-लीला का गायन किया है, उसमें असंग एवं सहज विनोदवृत्ति विद्यमान है। प्रभु आत्मक क्रीड़ हैं। वे अपने में ही और अपने से ही खेल रहे हैं। शुद्धाद्वैत मत में जगत हरि का सदंश है और जीव चिदंश है। कनक कुण्डल न्याय के अनुसार जो कुछ है

ब्रह्म ही है। जगत और जीव के रूप में उसी की लीला चल रही है। अन्तः एवं बाह्य एक दूसरे में ग्रथित हैं जो अन्दर है वही बाहर है, इसी हेतु सूर-सागर में भी अन्तः एवं बाह्य एक समान हैं। सूर की जो विनोदी वृति भ्रमर-गीत के संवादों के अन्तर्गत दृष्टिगोचर होती है वही शब्दों के साथ भी क्रीड़ा कर रही है। सूर के हृदय में जैसे ही भाव स्फुरित होता है वैसे ही क्रीड़ा करते हुये शब्द और शब्द के साथ लगे हुये अक्षर अपने आप स्फुरित होने लगते हैं। हृदय पक्ष और कलापक्ष लीलातत्व से इतने अनुरंजित हैं कि वे सूर की रचना के स्वाभाविक अंग बन गये हैं। शब्द-क्रीड़ा से सम्बन्धित कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) धनि-धनि भाग, धनि-धनि री सुहाग, धनि अनुराग धनि धन्य कन्हाई।
धनि-धनि रेनु, धनि दिन जसो आज, धनि घरी धनि पल धनि धनि भाई।

(२) सुन्दर स्याम सुन्दर वर लीला, सुन्दर बोलत वचन रसाल।
सुन्दर चारु कपोल विराजत सुन्दर उर जुवती बनभाल॥

(३) रुद्रपति, छुद्रपति, ओकपति, धरनिपति, गगनपति अगम बानी।
२५६६

(४) स्याम सुखरासि रस रासि भारी, सील की रासि, जसरासि आनन्द रासि रूप की रासिगुन रासि जीवन रासि दया की रासि, विद्या रासि बलरासि, चतुराई रासि छल रासि कल रासि। आदि

(५) माधव तनिक से वदन तनक से चरन भुज, तनक से करन पर तनक माखन।

तनक कपोल, तनक सी दँतुलियाँ तनक अधर अरु तनक हँसन॥

जिन दृष्टकूटों को हम दुरूहतामण्डित कहते हैं वे भी शब्दक्रीड़ा के ही अन्तर्गत आते हैं। साहित्यलहरी में शब्दों के साथ यह खेल खुल कर खेला गया है। दृष्टकूट का भी एक खेल देखिये—

सारंग समकर नीक नीक सम सारंग सरस बखाने।
सारंग बस भय, भय बस सारंग, सारंग विसमय माने॥
सारंग हेरत उर सारंग ते सारंग सुत ढिग हित आवे।
कुन्ती सुत सुभाब चित समुझत सारंग जाय मिलावे॥

इस पद में सारंग शब्द के साथ क्रीड़ा की गई है। नीक का अर्थ है अच्छा और अच्छा से कवि अक्षि अर्थात नेत्र का अर्थ ग्रहण करके कहता है कि राधा के नेत्र सारंग अर्थात मृग के समान हैं। मृग उनके नेत्र के समान हैं। संगीत के अन्तर्गत सारंग एक राग का भी नाम है। राग से अनुराग अर्थ ग्रहण करके कवि कहता है कि राधा के अनुराग के बस में भय है और भय के बस में अनुराग है अर्थात राधा में यदि एक ओर भय अथवा संकोच की भावना है तो दूसरी ओर अनुराग भी उसी समान मात्रा में हृदय में उपस्थित है। सारंग का एक अर्थ है समान रंगवाली सखी। जो सखी राधा के पास है वह राधा के इस विरोधाभासवाली वृति को देख कर आश्चर्य करती है। सारंग अर्थात कृष्ण को भी कहते हैं और कमल से उठ कर उसकी दृष्टि सारंग अर्थात दीपक के सुत काजल के समीप पहुँच जाती है। कुन्तीसुत सुभाव यह शब्द कुन्तीपुत्र कर्ण के स्वभाव अर्थात दानशीलता को प्रकट करता है। दान का एक अर्थ यह है, सखी राधा की मादक भावना को समझ कर उसे जाकर कृष्ण से मिला देती है।

इसी प्रकार एक पद में 'हेम जूही' शब्द के द्वारा कवि कहता है कि हेम जूही जिसे सोन जूही फूल कहते हैं। अपने इस पर्यायवाची शब्द के रूप में सो--वह, न--नहीं, जू--जो, हो--हृदय अर्थ का वाचक है। अर्थात मैं वह नहीं हूँ जिसको तुम हृदय में स्थान देते हो।

२. कल्पनाशक्ति

साहित्य का जिसे कहा करते हैं और उपनिषदकार जिसे ओह ब्रह्माण: कहकर प्रतिष्ठा की परकाष्ठा पर पहुँचा देते हैं, आज का वैज्ञानिक दृष्ट पदार्थों की परीक्षा से ऊपर चलकर अदृष्ट को पकड़ने के मार्ग में जिसका आश्रय लेने के लिए विवश हो जाता है वह कल्पना नाम की अद्‌भुत शक्ति सच्चे कवि को प्रकृति से ही प्राप्त होती है। जिस कवि के पास यह शक्ति जितनी अधिक है वह उतने ही उर्ध्वस्तर का अधिकारी है। आचार्यों ने जिसे अत्युक्ति अथवा अतिशयोक्ति का नाम दिया है वह भी इसी शक्ति के अन्तर्गत है। इसी शक्ति से कवि स्वल्पता को विस्तार देता है। एक बात को नाना उक्तियों में भरकर कहता है। एक ही दृश्य को विविध रूपों में भासमान बना देता है और साधारण से साधारण घटना को असधारण चमत्कारमय रूप प्रदान कर देता है। सूर कल्पनाशक्ति के धनी हैं। अपनी नवनवोन्मेष-शालिनी कल्पनाशक्ति के द्वारा उन्होंने भ्रमर-गीत जैसे सकुंचित विषय को

सूरसागर में अत्यन्त विस्तृत रूप दे दिया है। श्रीमद्भागवत में भी भ्रमर-गीत का इतना प्रशस्त रूप उपलब्ध नहीं होता। कुछ विषय ऐसे होते हैं जो कई कवियों के हाथों में पड़कर पिष्टपेषण मात्र बन जाते हैं, पर सच्चा कवि इन विषयों को भी अभिनव रूप देकर उन्हें सद्यः प्रस्तुत (ताजा) भोजन का रूप दे देता है। जिस कल्पना में माथापच्ची करनी पड़े उसमें स्वाभाविकता नहीं रहजाती। जो कल्पना सहज और विषय के अनुरूप हो वही सरस कल्पना काव्य में वांछनीय समझी जाती है। जो कवि कल्पना से शून्य है उसे आचार्यों ने कवि की संज्ञा भी प्रदान नहीं की है। 'इदमित्थं' इतिहास के लिए तो संगत है पर साहित्य के लिए नहीं। साहित्य में शब्दों का भी चुनाव करना पड़ता है। साधारण कवियों में यह बुद्धि प्रसूत होता है, परन्तु लोकोत्तर कवियों में प्रातिभ-जन्म जात एवं स्वाभाविक होती है। सूर ऐसे ही लोकोत्तर कवियों में हैं।

सूर ने अत्यन्त घरेलू व्यावहारिक एवं पारिवारिक प्रसंगों तक में अपनी कल्पना के बल से चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। सूखे नीरस एवं जटिल विषय भी सूर के हाथों में पड़कर सरस, सरल एवं मनोरम बना गए हैं। अलंकार कल्पनाशक्ति पर ही आधारित हैं, जिनपर हम आगे प्रकाश डालेंगे। यहाँ हम उक्तियों से ही संबंधित ऐसे चमत्कारपूर्ण उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं जो सूर की उत्कृष्ट कल्पनाशक्ति के परिचायक है—

मैया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
तुही देख छींके पर भाजन ऊँचे धरि लटकायो।
मैं बालक बहियन को छोटो, छीको केहि विधि पायो।
मुख दधि पोछि बुद्धि एक कीन्हीं दोना पीठी दुरायो॥

इस पद में एक साधारण-सी घटना है पर पद की एक एक बात सूर की कल्पना से संश्लिष्ट होकर प्रत्येक पाठक को ऐसा अनुभव करा रही है जैसे कृष्ण उन्हीं के सामने खड़े अपनी भोली-भाली निरीह प्रकृति का परिचय दे रहे हों। अपनी इसी कल्पनाशक्ति से सूर ने नेत्रों को कहीं सरल बाल-रूप दिया है तो कहीं छैल, कहीं उन्हें लोभीरूप में चित्रित किया है तो कहीं धृष्ट कहीं विश्वासघाती, चोर, योद्धा एवं नमकहरामी रूप में। उन्होंने कहीं उन्हें चकोर कहा है, कहीं भटके हुए राही और बोहित के काग। इसी प्रकार मुरली कहीं सपत्नी है, कहीं सौभाग्यवती स्त्री और कहीं तपस्विनी। ऐसे एक नहीं न जाने कितने काल्पनिक रूप सूरसागर को प्रदीप्त कर रहे हैं। वह

सागर है; सार्थक सागर है क्योंकि उसमें अपर-अपर ही नहीं अन्तस्तल तक प्रदीप्त भावमणियाँ अपना प्रकाश विकीर्ण कर रही हैं।

३: अलंकारयोजना

अलँकार का अर्थ है किसी वस्तु को अलम पर्याप्त तथा पूर्णता या परिपक्वावस्था तक पहुँचा देना। कवि रचना के जिन विधानों द्वारा अपने काव्य में इस तत्व की सिद्धि करता है उन विधानों को ही अलंकार कहा गया है। इन अलंकारों से काव्य की शोभा बढ़ती है। उसके शब्दों तथा अर्थों में सौन्दर्य श्री का समावेश होता है। उक्तियों में रुचिरता आती है, मनो—वृत्तियाँ उद्वेलित होती हैं और भाव प्रभविष्णुरूप धारण करते हैं। जैसे सहज सुन्दर रमणी अलंकृत होकर सुन्दर परिधान से सुसज्जित होकर आकर्षक बन जाती है वैसे ही निसर्ग सुन्दर भावभरित कविता भी अलंकारों से सुसज्जित होकर मनोमुग्धकारी रूप धारण कर लेती है। जो सौन्दर्य काव्य के अन्तस्तल में अर्थात भावधारा में है वही अभिव्यक्ति को भी सौन्दर्य प्रदान करने की क्षमता रखता है, पर यदि उसके सौन्दर्यवर्द्धनकारी अलंकारों का भी प्रयोग हो तो उसकी रमणीयता और भी अधिक निखर उठेगी। आचार्य कुन्तक ने वैदग्ध भंगी भणित में अलंकारों को स्थान दिया है। इनका विचित्रमार्ग कथन की अतीव बक्र-विधाओं से संयुक्त है। वे उक्ति वैचित्र्य को काव्य में प्रमुख स्थान देते थे। मम्मट ने अनलंकृत कविता को भी कविता माना है और जयदेव अलंकारों से विहीन कविता को कविता कहने में संकोच करते हैं। उनकी सम्मति में अग्नि अपनी उष्णता से विहीन होने पर अग्नि नहीं रहती। वैसे तो कविता भी उक्तिवैचित्र्य अर्थात अलंकारों से विहीन रहकर कविता नहीं रहेगी। साहित्यशास्त्र में हमने अलंकारों को कलात्मक शैली के अन्दर स्थान दिया और लिखा है कि शैली की एक विद्या अकलात्मक भी हो सकती है, जिसमें एकाध अलंकार भाव के प्रवाह में अपने आप तो आ जाते हैं पर कवि को उन्हें लाने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।

अलंकार काव्यसौन्दर्य की वृद्धि करते हैं। यह सत्य है पर यदि अलंकारों का आधिक्य कविता कामिनी के शरीर को ही आच्छन्न करले तो वही कहावत उपस्थित हो जायगी कि जिस स्वर्ण से कान फटें उसे धारण करने से क्या लाभ। हमारी सम्मति में अलंकारों का प्रयोग किसी भाव, गुण, विचार या क्रिया को उत्कर्ष देने के लिये ही होना चाहिये। काव्य का सौन्दर्यबर्द्धन ही अलंकारों का अभिप्रेत होना चाहिये। जहाँ सौन्दर्य बर्द्धन में बाधा पड़े, वहाँ अलँकार ग्राह्य नहीं' त्याज्य समझे जायेंगे।

अलंकरण शब्द तथा अर्थ दोनों में होता है जैसा लिख चुके हैं, जन्म-जात कवियों की रचना में ये अलंकार स्वभावतः आते रहते हैं। जब कवि को काव्यगत विषय की प्रौढ़ता सम्पादित करनी होती है तब वह शास्त्रविहित अलंकार विधानों को खोज-खोज कर लाता है और अपनी रचना को कला कौशल से कमनीयता की दीप्ति प्रदान करता है। सूर उच्चकोटि के धरातल पर विराजमान कवि हैं। वे भक्त हैं, पर साथ ही जन्मजात कवि भी। भक्ति और कविता का मणिकांचनसंयोग उनके सूरसागर में हुआ है।

भक्ति भावना है, तो कविता कला है। कविता की मूल भावना है। वह भाव ही उद्भूत होती है। काव्य कला को बहन करने वाली है। यह कला शब्दसौन्दर्य तथा अर्थसौन्दर्य दो भागों में विभाजित है। अर्थसौन्दर्य नाद को आकर्षक रूप देकर पाठक के मन को बाहर से आकर्षित करता है। किसी भाव या विचार को कैसे अभिव्यक्ति दी जाय, उन्हें प्रकट करने के लिये किस पद्धति का व्यवहार किया जाय, उन्हें कैसे हृदयगम्य एवं बोधगम्य बनाया जाय, यह कवि की अपनी प्रतिभा पर अवलम्बित है। ये विधान या साधन कवि की प्रतिभा के मापक भी माने जा सकते हैं। भाव या विचार सूक्ष्म हैं वे पाठक तक इन्हीं साधनों द्वारा प्रेषणीय बनाये जाते हैं। सूक्ष्म को स्थूल द्वारा सुगमता से समझाया जा सकता है। कभी-कभी स्थूल को भी सूक्ष्म विधान स्पष्ट करने में अधिक सक्षम अनुभव किया गया है। सामान्य प्रणाली सूक्ष्म का स्थूल द्वारा अभिव्यक्ति देने में निहित है। कभी-कभी सूक्ष्म द्वारा ही सुचारु रूप से अभिव्यक्त किया जा सकता है। हाँ कभी-कभी स्थूल को भी सूक्ष्म द्वारा प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। स्थूल-स्थूल द्वारा व्यक्त होता है। यह सब कवि की शब्दशक्ति एवं अर्थशक्ति की योग्यता पर ही अवलम्बित है। उपयुक्त भाव के निमित्त उपयुक्त शब्द और उपयुक्त कथनप्रणाली की आवश्यकता होती है। अर्थालिकारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार स्थूल को स्थूल द्वारा अथवा सूक्ष्म की स्थूल द्वारा प्रकट करने की स्वीकृत उक्ति विधायें हैं। अन्योक्ति, समासोक्ति अप्रस्तुत प्रशंसा, श्लेष आदि अलंकार भी इसी कोटि में आते हैं। इन अलंकारों द्वारा अनेक सौन्दर्यविधायें अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत की गई हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों में इन अलंकारों के नाम परि-गणित हैं। जब से अलंकारशास्त्र प्रकाश में आया तब से लेकर अब तक अलंकारों की संख्या में परिवर्तन होता आया है। नवीन अलंकारों का आवि-र्भाव होता रहा है। कभी-कभी उनकी परिभाषाओं में भी अन्तर आया है और कभी प्राचीन अलंकारों का स्थान नवीन अलंकारों ने ले लिया है। आज भी हम यह नहीं कह सकते कि अलंकारों की संख्या इतनी ही है इसके आगे

नहीं जा सकती। वस्तुस्थिति यह है कि जैसे भाव–विभाव अपार हैं वैसे ही उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार भी। अनन्त पारम् किल शब्द शास्त्रम् तथा कवयः क्रान्त दर्शिनः जैसी उक्तियाँ इसी तथ्य की ओर संकेत करती हैं।

साहित्यशास्त्र में जिस अलंकार सम्प्रदाय की मान्यता है वह रस, ध्वनि, गुण आदि सभी को अलंकार की श्रेणी में सम्मिलित करता रहा है। शब्दसौन्दर्य और अर्थसौन्दर्य की साधना में ही उसने काव्य की इतिश्री समझी है। तुलसी के शब्दों में कवि अरथ आखर बल साँचा-अर्थ और अक्षर की शक्ति भाषासौन्दर्य और भावप्रकाशन की ही शक्ति है, पर सहृदय भावुक इसके आगे भी गये हैं और उन्होंने इन दोनों के भी ऊपर रससिद्धान्त की स्थापना की है। इसका प्रकाख्यान असम्भवप्राय हैं। अलंकृतियाँ हमें अर्थ या भाव का अनुभव करा देंगी, परन्तु भाव के भावित होने पर जिस अनिर्वचनीय अवस्था की अनुभूति सभी सहृदय किया करते हैं, वह आनन्द प्रस्रावी रसकाव्य में मूर्धन्य स्थान का अधिकारी अवश्य माना जायेगा। सूर-रचना का जब हम अलंकारिक अध्ययन करते हैं तो सर्वप्रथम रस पर भी हमारी दृष्टि अनायास चली जाती है। यह सत्य है कि सूर के सामान्य अध्ययन में अलंकारों का अध्ययन महत्व-पूर्ण रहा है, परन्तु रस के विवेचन में भी पर्याप्त परिश्रम किया गया है। सूर के वात्सल्य रस एवं विप्रलंभ श्रृंगार को कौन अध्येयता अपनी दृष्टि से ओझल कर सकता है। अब हम सूरसागर में प्रयुक्त अलंकारों पर अपने विचार प्रकट करेंगे। उसके पश्चात् रसभूमि का भी अवलोकन करेंगे।

(अ) शब्दालंकार

अनुप्रास शब्दालंकारों का राजा है। वर्णमैत्री एवं शब्दमैत्री इसी के अन्तर्गत हैं। आक्षरिक चमत्कार से शब्दों में सौन्दर्य की वृद्धि होती हैं। एक ही प्रकार के अक्षर एक ही स्थान से उच्चरित होने वाली ध्वनियाँ, एक सम-ध्वनि आश्रित आद्य अथवा अन्त्य शब्द जब कानों में पड़ते हैं तो वे मन को सहज प्रिय लगते हैं। कभी-कभी अक्षर ही नहीं वाक्यों की भी आवृत्ति हो जाती है परन्तु शब्दों की अन्वयगत विशिष्टता के कारण अर्थ में वैभिन्य आ जाता है पर यह अर्थ विभिन्नता विशिष्ट शब्दों पर अवलम्बित रहती है अतः वाक्यगत इस विशेषता को भी शब्दालंकार के अन्तरगत स्थान दिया जाता है और यह विशेषता लाटानुप्रास का अभिधान पाती है। पदखण्ड अथवा शब्दों की आवृति भी शब्दालंकार के ही अंतरगत है। इसमें यमक, वीप्सा तथा पुनरुक्ति प्रकाश आते हैं। छेकानुप्रास इसमें एक अक्षर दो शब्दों में आदि

मध्य तथा अंत में एक ही क्रम से दो बार आता है। सूरसागर में कदाचित कोई पद ऐसा नहीं निकलेगा जिसमें छेकानुप्रास की यह विशेषता न हो यथा कमल कुसेसय तजि लाज मुख मुन्डल कोऊ कहत नन्दन ठालेकत ठहरात।

देखियत कालिन्दी अतिकारी। चपला अति चमचमाति।

गिरि जनि पर टरे नग तें जनि। स्याम सुभग तनु भजि तुम तजि तरुनी तरत लगी नहिं बार। सुख करत समाज आज।

वृत्ति अनुप्रासः—इसमें एक अक्षर की आवृति कम-से-कम तीन बार होती है। इस आवृति से लय में प्रभाव उत्पन्न होता है जो काव्य-सुन्दरी का सम्बर्द्धन करता है जैसे—

१. सुनत करुना बैन, उठे हरि बल ऐन।
   नैन की सैन गिरि तन निहारयो।
२. गोपी गाय, ग्वाल गोसुत दुख विसर्यो, सुख करत समाज।
३. कर कंकन कंचन थार मंगल साज लिए।
४. करत कुसुम रस केलि।
५. विलसत विपिन विलास विविध वर वारिज वदन बिकच सचुपायो

श्रुति अनुप्रासः— इसमें एक स्थान से बोले जाने वाले अक्षरों की प्रधानता रहती है जैसे—

१. ऐसे हम देखे नन्द-नन्दन
२. स्याम सुभग तनु पीत वसन जनु, स्याम जलज पर तड़ित सुद्दन्दन।

इस पद में दन्त्याक्षरों की अधिकता के कारण श्रवण सुखदता उत्पन्न हो गयी है। अन्त्यानुप्रास तो पद शैली के कारण सूरसागर में सर्वत्र उपलब्ध हैं।

यमकः—यह अलंकार शब्दों, पदों अथवा पदखण्डों की आवृत्ति पर आधारित है। यदि निरर्थक वर्णसमूहों की आवृति हुयी तो यमक सर्व-श्रेष्ठ माना जायेगा। जहाँ कुछ वर्णसमूह निरर्थक तथा सार्थक हो, वहाँ मध्यम कोटि का यमक होगा और जहाँ सार्थक वर्णसमूहों की आवृत्ति होगी वहाँ मध्यमकोटि का यमक होगा और जहाँ सार्थक वर्ण समूहों की आवृति होगी

वहाँ मध्यम कोटि का यमक होगा और जहाँ सार्थक वर्णसमूहों की आवृति होगी। वहाँ यमक अधम कोटि का माना जायेगा। ये कोटियाँ वर्ण और अर्थ को ध्यान में रख कर की गई हैं। शब्दालंकार में अर्थ की नहीं अपितु वर्ण और शब्द के गुंजन की प्रधानता है यथा—

(१) ऊधौं जोग–जोग हम नाहीं
(२) सारंग विनय करति सारंग सो सारंग दुख विसरावहु।
(३) नन्द नन्दन दास हित साहित्य लहरी कीन्ह
(४) जाति पाँति तुमतें कछु नाहिन, नाहिन रहत तुम्हारी छैंयां।

सूरदास ने सार्थक वर्णसमूहोंवाले यमक का ही अधिक प्रयोग किया है। ऊपर की पंक्तियों में एक 'जोग' का अर्थ है योग और दूसरे 'जोग' का अर्थ है योग्य। सारंग वाले पद में एक 'सारंग' का अर्थ है सखी, दूसरे 'सारंग' का अर्थ है भ्रमर, उद्धव और तीसरे सारंग का अर्थ है कृष्ण। नन्दनन्दन में एक 'नन्द' का अर्थ है गोपनन्द जो यशोदा के पति हैं। दूसरे का अर्थ है आनन्द देने वाला पुत्र। नाहिन का अर्थ है नहीं है हीन, दूसरा नाहिन निषेधार्थक है।

श्लेष—यह शब्द और अर्थगत दो प्रकार का होता है। जब श्लिष्ट शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख दें तब भी श्लेष बना रहे तो वह अर्थगत श्लेष होगा और उसकी गणना अर्थालंकार में की जायेगी। यदि पर्यायवाची शब्द रख देने से श्लिष्ट शब्द में श्लेष न रहे तो शब्दगत विशेषता के कारण वहाँ शब्दालंकार का श्लेष माना जायेगा, यथा—

दुहू कूल तरुणी मिली तरत न लागी बात।

यहाँ 'तरुणी' शब्द में शब्दगत श्लेषालंकार है। तरुणी का एक अर्थ है स्त्री, दूसरा अर्थ है नाँव।

बिनु धर वह उपराग गह्यो।

यहाँ बिनुधर के दो अर्थ हैं काम और राहु।

दृष्टकूट प्रायः श्लेष का आधार लेकर चलता है। अर्थालंकारों में परिसंख्या रूपकातिशयोक्ति, समासोक्ति, मुद्रा आदि अलंकारों में श्लेष की ही प्रधानता रहती है।

वीप्सा—जब समानार्थक शब्दों की आवृति चमत्कार युक्त हो और किसी भाव की व्यंजना करती हो तब यह वीप्सा अलंकार होता है यथा—

धनि-धनि भाग, धनि-धनि री सोहाग आदि ।

पुनरुक्ति प्रकाश—इस में भी समानार्थक शब्दों की आवृति होती है, परन्तु यह आवृति विस्मयादि भावों की जननी नहीं, केवल चमत्कार की जननी होती है—जैसे :—

नयोगेह नयोनेह, नयोरस, नवल कुवँरि व्रषभानु किसोरी ।
नयी पीताम्बर नयी चूनरी नयी-नयी बूँदन भीजत गोरी ।।

वीप्सा और पुनरुक्ति प्रकाश से मिलता-जुलता पदार्थावृति दीपक अलंकार भी होता है । परन्तु उसकी गणना अर्थालंकारों में होती है इसमें एक ही क्रियाशब्द बार-बार आकर अनेक पदार्थों को प्रकाशित करते हैं ।

वक्रोक्ति—जैसा पीछे लिख चुके हैं अलंकार उक्तिवैचिव्य का ही नाम है वक्रोक्ति में भी उक्ति की वक्रता रहती है और यह काकु अर्थात ध्वनि और श्लेष के आधार पर सार्थक होती है, यथा—

हम मूरख तुम चतुर हो, कुछ लाज न आवै ।

वक्रोक्ति से अर्थ हुआ, हम मूर्ख नहीं हैं, तुम्हीं मूर्ख हो, तुम्हें इस मूर्खता पर लज्जा आनी चाहिये । भ्रमरगीत में ऐसी वक्रोक्तियाँ बाहुल्य से मिलेंगी ।

(आ) अर्थालंकार

उपमा—मानव शरीर इस ब्रह्माण्ड का ही सूक्ष्मरूप है, जो यहाँ है वही वहाँ पर भी है । इसके अतिरिक्त जो आन्तरिक भावसौन्दर्य बाह्य शरीर में प्रस्फुटित होता है वही ब्रह्माण्डीय दृश्यों के सौन्दर्य में भी प्रतिबिम्बित होता है । उपमा में अवगत दृश्य या क्रिया से अनवगत दृश्य या क्रिया को स्पष्ट किया जाता है । यथा—

हरि दर्शन की साध मुई ।
उड़िय उड़ी फिरति नैनन संग कर फूटे ज्यों आक रुई ।।

इस पद में हरि दर्शन की इच्छा का वर्णन है । मुई (बावली बेचारी) उसका विशेषण हैं । इच्छा उड़ी-उड़ी फिरती है कभी इधर जाती । इच्छा के उड़ी-उड़ी फिरने की क्रिया को कवि आक अर्थात मदार की रुई से उपमा देता है । मदार के फल 'अकबोड़ी' के फटने पर उससे रुई निकलती है और वायु

के साथ इधर-उधर घूमती रहती है,पर जैसे यह निराश्रय निरवलम्ब है वैसे ही गोपियों की हरिदर्शन की कामना भी कृष्ण के दर्शन न होने पर उसका घूमना भी अवलम्बनविहीन 'ही' रहता है—

लोचन टेक परे सिसु जैसे—

पद की इस पंक्ति में नेत्रों के दृढ़ का वर्णन है उन्हें कृष्ण दर्शन होना ही चाहिये। यह दृढ़ वैसी ही है जैसी बालकों की होती है। बालहठ प्रख्यात है जैसे बच्चे जिस बात के लिए हठ करेंगे उसे प्राप्त करके छोड़ेंगे। वैसे ही जब तक कृष्ण नेत्र दर्शन नहीं करते तब-तक भला चुप रहने वाले हैं।

उपमाओं की ताजगी, नवीनता एवं प्रभावोत्पादकता के लिए सूर के कई पद प्रख्यात हैं। नीचे ऐसे दो पद दिए जाते हैं:—

हमारे हरि हारिल की लकरी।
मन वच क्रम नंदनन्दन सों उर यह दृढ़ करि पकरी।
जागत सोवत, सपने सौं तुख कान्ह कान्ह जकरी।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी।
सोई व्याधि हमें लै आये देखी सुनी न करी।
यह तौ सूर तिन्हैं लै दीजै जिनके मन चकरी।

४६०६

बिनु माधव राधा तन सजनी सब विपरीत भई।
गई छपाय छपाकर की छवि, रही कलंक मई।
लोचन हू ते सरद सारसै सुछवि निनोय लई।
आंच लगे च्योनो सोनो ज्यो त्यो तन-धातु हुई।
कदली-दल सी पीठि मनोहर, सो जनु उलट गई।
संपति सब हरि-हरी, सूर प्रभु, विपदा दई-दई।

४०२२

प्रथम पद में करुई ककरी की उपमा की नवीनता आलोचकों को अवश्य आकर्षित करेगी। हारिल की लकरी में रूपक है। उसे वाचक धर्म लुप्तोपमा भी कहा जा सकता है। हारिल में श्लेष भी है— हारिल पक्षी तथा थका हुआ प्राणी। प्रकृति के व्यापक, सूक्ष्म एवं गम्भीर पर्यवेक्षण का संकेत भी इस शब्द के प्रयोग में विद्यमान है। दूसरे पद में क्षपाकर की छवि लुप्त हो

गई । अब केवल कलंक शेष रह गया है' इस उक्ति में ललितोपमा है । उप— मानों की छाया में उपमेय की विशेषता प्रकट हो रही है । राधा के शरीर का सौन्दर्य जाता रहा, केवल वियोगताप से उत्पन्न कालिमा दिखाई दे रही है । शरदकालीन कमलों की सुछवि नेत्रों से निचोड़ लीग ई हैं, अर्थात नेत्र अब विकसित नहीं, म्लान एवं विषण्ण दिखाई देते हैं। कच्चा सोना अग्नि में पड़ते ही नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार राधा के शरीर की धातुयें नष्ट हो गई हैं । इस से शरीर की क्षीणता ध्वनित हो रही है । कदली दल की उपमा बड़ी ही सरीर है । केले के पत्ते का सीधा भाग चिकना और कोमल होता है । उसमें बीच की मेरुदण्ड-सी उठी हुई पीठ दबी रहती है, दिखाई नहीं देती यदि पत्ते को उलट दें और दृष्टि डालें तो रीढ़ की हड्डी के समान बीच की लकीर उठी हुई दिखाई देगी । कोमलता एवं मसृणता के स्थान पर कठोरता एवं रूखापन भी अनुभूत होगा । राधा के शरीर की हड्डी-हड्डी दिखाई देने लगी है । मेरुदण्ड जो मांसलता के कारण दबा रहता था, अब कृशता के कारण बाहर निकल आया है । राधा का दौर्बल्य और वियोग की तीव्रता पद की इन पंक्तियों से उपमालंकार द्वारा स्पष्ट हो रही हैं । बीरबल उपमाओं के लिये प्राख्यात हैं, पर सूर की उपमायें भी अतीव मर्मस्पर्शी हैं। उपमाओं के साथ सूर अपने पद-लालित्य एवं अर्थगाम्भीर्य के लिये भी प्रसिद्ध हैं । ऊपर जिन दो पदों को उद्धृत किया गया है उनमें ये तीनों विशेषतायें आ गई हैं । हरि-हरी तथा दई-दई में शाब्दिक चमत्कार के साथ आर्थिक विशेषता भी है । हरि हरने वाले हैं तो देव देने वाला है । अर्थगत चमत्कार सौन्दर्य के हरण तथा विपत्ति के देने में हैं । उपमा के विभिन्न भेद भी सूर-सागर में पाये जाते हैं। इन के लिये पाठक कृपया 'सूरसौरभ' के चतुर्थ संस्करण के पृष्ठ १८३ का अवलोकन करें ।

रूपक—इस अलंकार में उपमेय और उपमान मिलकर एक हो जाते हैं । उपमा में सादृशसूचक शब्द उन्हें पृथक-पृथक रखते हैं । रूपक में ऐसा नहीं होता है । रूपक के दो भेद हैं–अभेद रूपक और तद्रूप रूपक । सांग, निरंग तथा परम्परित नाम से इसके तीन और भेद हो जाते हैं । हीन, अधिक और सम नामक तीन अन्य भी भेद हैं ।

साँगरूपक—इसमें एक मुख्य रूपक होता है और अन्य रूपक उसके अंग होते हैं । यथा—

स्याम घटा गज असन बजि, रथ, चित्र वग पाँति संजोयल।

दामिनि कर करवार बूँद सर यहि विधि साजे सैन ॥
निदरक भयो चल्यो व्रज आवत अग्र फौजपति मैन ।

इस पद में कामदेव को सेनापति का रूप दिया है। यह मुख्य रूपक हैं। इसके साथ स्याम घटा रूपी हाथी, विद्युत रूप रथ, बाज, दामिनीरूप तलवार, बिन्दुरूपी बान आदि-आदि उसके अंग हैं। सेनापति द्वारा सेना को अग्रसर करना मानो चतुर्दिक अपने आतंक को फैलाना है। सेना का रूप भी भयानक होता है, फिर उसके कृष्ण तो और भी अधिक रोमांचकारी तथा भीषण होते हैं। कामदेव की सेना भी कम भयानक नहीं है। गोपियों पर इसका आक्रमण हृदय को दहला देने वाला है। यदि आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तब भी कामना के कारण जो त्रास एवं दसन जीवात्मा को भोगना पड़ता है वह भौतिक व्याधियों से भी अधिक कष्टकर है।

परम्परित रूपक—इसमें दो रूपक होते हैं, दोनों एक दूसरे के आश्रित होते हैं। जब दूसरा रूपक न आवे तब प्रथम रूपक का महत्व स्पष्ट होता, यथा—

चित चातक प्रेमघन लोचन चकोरनिचन्द—इस पंक्ति में चित्त को चातक का रूप दिया है, परन्तु चित चातक इसलिये है कि चातकता में कौन हेतु अर्न्तभूत हैं, रूपक बांधने पर चित्त का किस विशेषता का उद्घाटन किया जा रहा है, ये तथ्य तब तक स्पष्ट न होंगे, इनका रहस्य उन्मुक्त नहीं होगा, जब तक हम प्रेम रूपी मेरु को अपने सम्मुख प्रस्तुत नहीं करेंगे। चातक स्वाति-नक्षत्र की बूँद की ओर लालसाभरी दृष्टि से देखा करता है। चित्त भी प्रेम की ओर लालायित होकर बढ़ रहा है। गोपियों के चित्तरूपी चातक के लिये कृष्ण प्रेम के बादल हैं। गोपियों का चित्त और चातक की दृष्टि दोनों ही अपने अभीष्ट की कामना करते हैं। वह इष्टदेव द्वारा प्राप्त हो ही जाती है। मेघ स्वाति नक्षत्र की वर्षा की एक बूँद से चातक को तृप्त करता है तो श्रीकृष्ण प्रेम की वर्षा द्वारा गोपियों के हृदय को आप्यायित करते हैं। इसी प्रकार नेत्रों को चकोर का रूप दिया गया, परन्तु एक रूपक से कवि का उद्देश्य तब तक सम्मुख नहीं आ पाता जब तक हम कृष्ण रूप चन्द्र के रूप तक नहीं पहुँच जाते हैं। चन्द्र जैसे चकोर की दृष्टि को आल्हादित करता है उसी प्रकार कृष्ण को देखते ही गोपियों के नेत्र प्रसन्न हो उठते हैं।

रूपकातिशयोक्ति—इस अलंकार में केवल उपमानों का उल्लेख रहता है और उनके द्वारा ही कवि प्रस्तुत अथवा वर्ण्य विषय को पाठकों अथवा श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत कर देता है यथा—

अद्भुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग ।।

इस पद में राधा के शरीर का बाग से रूपक बाँधा गया है । यहाँ केवल अप्रस्तुत अथवा उपमान वर्णित हुये हैं, जिनमें बाग उपमान है, परन्तु उसके द्वारा कवि ने राधा के शरीर को प्रकट करना चाहा है । बाग आराम-दायक है, अन्दर-बाहर सब ओर से रमणीय है । उसमें खिले हुये दो कमल राधा के दो पैर हैं। हाथी उपमान है जिसमें जंघाओं का वर्णन अभिप्रेत है । इसी प्रकार सिंह से कटि तालाब से नाभि और पर्वत से उन्नत उरोज का अभिप्राय है । उपमानों द्वारा अंगों की विशेषतायें प्रत्यक्ष हो उठती हैं ।

प्रतीप—इसमें उपमान और उपमेय उलट कर एक दूसरे का स्थान ले लेते हैं । कभी उपमान उपमेय का अनादर करता है तो कभी उपमेय उपमान का । कभी उपमेय के सामने उपयुक्त ही प्रतीत नहीं होता और कभी उसकी व्यर्थता भी सिद्ध की जाती है । यथा—

(१) राधो तेरो वदन विराजत नीको ।
जब तू इत उत वंक विलोकति होति निसापति फीको ।।

(२) तुम हो बाम अंग दक्षिण वै ऐसे करि एक देह ।
सूर मीन मधुकर चकोर की इतनों नहीं सनेह ।।

(३) उपमा हरि तन देखि लजाने ।
कोऊ जल में कोऊ बन में रहे दुरि कोऊ गगन समाने ।।
मुख निरखत ससि गयों अम्बर को तड़ित दसन छवि हेरो ।
मीन कमल कर चरन नयन उर जल में कियो वसेरो ।।
भुजा देखि अहिराज लजाने विवरन बैठे धाय ।
कटि निरखत केहरि उरमान्यों बन-बन रह्यो दुराय ।।

ऊपर उद्धृत पंक्तियों में उपमेय की विशेषता वर्णित हुयी है और उपमानों को उपमायों के सामने हेय सिद्ध किया गया है । वे फीके पड़ जाते हैं या लज्जित हो जाते हैं, यहाँ तक तो प्रतीप है, परन्तु जब एक अन्य उक्ति द्वारा उनके विवर में छिपने अथवा जल या आकाश में निवास की कल्पना की जाती है तब उक्ति में हेतूत्प्रेक्षा अलंकार मानना होगा ।

उत्प्रेक्षा:—उत्प्रेक्षा का अर्थ है किसी वस्तु या फल में प्रकृष्ट दृष्टि द्वारा किसी दूसरी वस्तु या फल की कल्पना करना। सूर ने सामान्य उत्प्रे-क्षाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी उत्प्रेक्षाएँ की हैं जिनमें नायक के लोकोत्तर व्यक्तित्व को सार्थकता प्राप्त होती है। सम्भव है ऐसा उन्होंने साम्प्रदायिक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर किया हो यथा—

अरुन स्वेत सित झलक पलक प्रति को बरनै उपगाइ।
मानौ सरस्वती गंग जमुन मिलि आसम कीन्हो आइ।

नेत्रों में पुतली की कालिमा कोयों की अरुणिमा और शेष भाग की श्वेतिमा सभी उदात्त व्यक्तियों की विशेषता के अन्तर्गत हैं। परन्तु कवि इन नेत्रों को साधारण नेत्रों से पृथक करना चाहता है। ये नेत्र उसके लिए दिव्य नेत्र हैं। तभी तो ऊहा द्वारा वह उनमें गंगा, यमुना और सरस्वती के संगम रूप तीर्थराज का अनुभव करता है। रंगों की दृष्टि से गंगा का जल श्वेत, यमुना का श्यामल और सरस्वती का पीला जल माना जाता है। प्रथम दो 'नदियों के जल का रंग तो दृष्टिगोचर होता है। सरस्वती अब कहीं दिखाई नहीं देती, अतः उसका रंग पीला है। इसे कवि-कल्पना मात्र कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से गंगा ज्ञान है जिसका रंग श्वेत माना गया है। यमुना कर्मस्थली है जो अपनी कर्मठता में श्यामल हो गई है। सरस्वती भावना है जो प्रेरणामयी होने के कारण पीले रंग की है। ये तीनों रंग चेतन क्षेत्र के तीन पक्षों पर प्रकाश डालते हैं। इन सबका समावेश शुद्धाद्वैत के सिद्धांत का भी पोषक बन जाता है। चेतन पक्ष आनन्दरूपी श्रोत की ही एकधारा है। उत्प्रेक्षा की विराट कल्पना का अनुभव निम्नांकित पंक्ति में कीजिए—

भाल विसाल ललित लटकनि मनि बाल दसा के चिकुर सुहाये।
मानो गुरु सनि कुज आगे करि ससिहिं मिलन तम के गन आये।
उपमा एक अनूप भई तब जब जननी पट पीत उढ़ाये।
नील जलद पर उड़गन निरखत तजि सुभाव मन तड़ित छिपाये।

कृष्ण के विशाल भाल पर सुन्दर मणि लटक रही है। इस मणि का रंग लाल है। कृष्ण की 'स्वर्ण कान्ति ने उसपर पीले रंग का प्रभाव डाला है और शारीरिक श्यामलता उसके साथ संलग्न है ही। कृष्ण का मुख मानो चन्द्रमा है। बाल्यावस्था के घुंघराले काले बाल तम का समूह है। तमोगुण

यदि सतोगुण से मिलन करेगा, उसमें समाहित होना चाहेगा, तो रजोगुण को अपने आगे कर लेगा। तम पीछे होगा, रज उसके आगे और सत दोनों के सम्मुख। सूर की कल्पना कितने सुचारु रूप से विकास की इस आध्यात्मिक दिशा का संकेत कर रही है। एक विशेषता इन पंक्तियों में और भी है। फलित ज्योतिष के अनुसार यदि गुरु शनि, मंगल और चन्द्र एक साथ हों तो ऐश्वर्यवृद्धि में शंका के लिए अवकाश ही नहीं रहता। बालक कृष्ण वैसे भी बाल भगवान हैं। वे षड़ैश्वर्यों के निधान हैं, अतः कथन की समीचीनता में ननुनच के लिए स्थान ही नहीं है। दूसरी उत्प्रेक्षा भी ब्राह्मण से सम्बद्ध है। जहां नील जलद हो वहां नक्षत्र दिखाई नहीं देते। जलद की तड़ित उन्हें बाद में दूर करेगी। प्रथम तो नक्षत्रों पर आवरण डालने के लिए श्यामल मेघ ही पर्याप्त सिद्ध होंगे। यहाँ कवि वैषम्य की उत्पत्ति द्वारा एक चमत्कार खड़ा करना चाहता है। यह चमत्कार ही नीलजलद में नक्षत्रों का सुशोभित होना और इस वैषम्य की रक्षा के लिए एक अन्य वैषम्य का अविर्भाव करके इस वैषम्य को छिपा देना। वस्तु स्थिति यह है कि कृष्ण का शरीर श्यामल जलद के समान है, मणि माला के रत्न नक्षत्र तुल्य हैं और ऊपर सो ओढ़ा हुआ पीताम्बर बिजली के समान है। वास्तविकता पर कल्पना का जो आवरण डाला गया है, उसमें वैषम्यों के मूलाधार की ओर इंगित है ही और एक निषेध का दूसरे निषेध द्वारा प्रत्याख्यान भी करा दिया गया। इन तथ्यों तथा सिद्धाँतों को सूर जैसा क्राँतदृष्टा कवि ही काव्य का रूप दे सकता था। इसी कोटि की एक बस्तूत्प्रेक्षा निम्नाँकित पद में भी दर्शनीय है:—

> प्रिया मुख देख्यो श्याम निहारि।
> कहि न जाय आनन की शोभा रही बिचारि-बिचारि।
> छीरोदक घूंघट हातौ करि सम्मुख दियो उघारि॥
> मानो सुधाकर दुग्ध सिन्धु ते कढ़यो कलंक परवारि।

उत्प्रेक्षा का सामान्य रूप इस प्रकार है। राधाकृष्ण के सामने हैं। उसके मुख पर घूंघट है। कृष्ण ने अपने हाथ से इस घूंघट को उठा दिया तो राधा का मुख ऐसा प्रतीत होने लगा मानो चन्द्रमा दूध के समुद्र में अपने समस्त कलंकों को धोकर प्रगट हो गया हो। सामान्य दृष्टि से इन पंक्तियों में निहित आध्यात्मिक तथ्य को ग्रहण न कर सके पर साधक की दृष्टि तो इस तथ्य को अवगत कर ही लेगी। साधना में आत्मा तमोगुण के अधम आवरण रजोगुण की क्रियाशीलता द्वारा फाड़ डालता है। रजोगुण जो मध्यम आवरण है, अपने अन्दर चंचलता का विकार रखता है। इस विकार को जीवात्मा

सत्वगुण की समता द्वारा दूर कर लेता है । तुलसी के शब्दों में 'जो जोरे सो छोरै' इसे तो वही दूर कर सकता है जो इससे संयुक्त करने वाला है । राधा उस विकसित जीव का प्रतीक है जो सत्वगुण में प्रवेश कर चुका है । सूर ने इसीलिए उसे दुग्धधवल चन्द्र से उपमित किया है । चन्द्र श्वेत है पर आवरण-रूपी कलंक तो उसके साथ है ही ।

इसे वह स्वयं दूर नहीं कर पाता । सात्विक अभिमान भगवान के द्वारा ही दूर होता है । इस तथ्य का उद्घाटन उपर्युक्त पद में उत्प्रेक्षालंकार द्वारा किया गया है ।

व्यतिरेक—इस अलंकार में उपमेय की समता तो उपमान से की जाती है, परन्तु उपमेय में किंचित आधिक्य और उपमान में किंचित न्यूनता दिखा कर एक को दूसरे से व्यतिरिक्त भी कर दिया जाता है । यथा :—

देखिरी हरि के चंचल नयन ।
राजिव दल, इन्दीवर शतदल कमल कुसेसय जात ।
निसि मुद्रित प्रातहि ऐ विकसत—ऐ विकसत दिन रात ।।

श्रीकृष्ण के चंचल नेत्र सदैव विकसित रहते हैं, कमल भी इनके समान हैं, परन्तु वे रात्रिभर मुद्रित अवस्था में पड़े रहते हैं । प्रातःकाल होने पर ही विकसित हो पाते हैं । कवि इस उक्ति द्वारा प्रभु के अबाध विकास का भी वर्णन कर रहा है । जगत और जीव दोनों ही क्षेत्र—बाधाओं से आक्रान्त हैं । एक प्रभु ही ऐसे हैं, जहाँ तक बाधायें नहीं पहुँच पातीं ।

सन्देह—उत्प्रेक्षालंकार में एक वस्तु में दूसरी वस्तु की काल्पनिक स्थापना की जाती है । संदेह अलंकार में सम्भावना मात्र रहती है । इसके विपरीति भ्रान्तिमान अलंकार होता है, जिनमें एक वस्तु को निश्चित रूप से अन्य वस्तु समझ लिया जाता है । रस्सी में सर्प का निश्चित मान उक्ति चमत्कार के द्वारा भ्रान्तिमान अलंकार माना जायगा । इसके अतिरिक्त जब हम रस्सी को रस्सी रूप में भी देखेंगे और उसमें सर्प की कल्पना भी करेंगे यथा यह रस्सी क्या है मानो सर्प है तो उत्प्रेक्षा अलंकार होगा । परन्तु जब हम अनिश्चयात्मक बनें रहेंगे और कहेंगे कि यह रस्सी है या सांप है तब संदेह अलंकार होगा । यथा—

किधौं व्रजवन लाल नगनि खँचि तापर विद्रुमपाँति ।
किधौं सुभग वन्धूक कुसुम पर झलकत जलकन कान्ति ।।

यहाँ दाँत हैं जो मसूड़ों में जुड़े हैं। उनके ऊपर अधरों की लालिमा है। इस दृश्य में कवि ने मसूड़ों में लाल नग का दाँतों में हीरों का और अधरों की लालिमा में विद्रुम की लालिमा का संदेह किया है।

अपह्नुति—इसमें उपमेय को छिपा कर उपमान की स्थापना की जाती है। कभी-कभी उपमानों को हटा कर उपमेय की स्थापना की भ्रान्ति को दूर भी किया जाता है। यथा :—चातक न होउ कोऊ विरहिनि नारि।

पद में चातक की पी–पी ध्वनि को सुन कर कवि अनुभव करता है कि यह चातक नहीं कोई विरहिणी स्त्री है। इसमें प्रथमा कोटि की अपह्नुति है। दूसरी कोटि की अपह्नुति का उदाहरण नीचे दिया जाता है—

भाल तिलक उडुपति न होइ यह,
कबरि ग्रथित अहिपति न सहस फन।
नहिं विभूति दधिसुत न कण्ठ जड़,
यह मृग मद चन्दन चर्चित तन।

इस पद में राधा के शरीर को कामदेव द्वारा आक्रान्त देख कर कवि कहता है :—अरे कुसुम सर देखता नहीं है, यह राधा है, तुझे महादेव का भ्रम क्यों हो गया है ? जिसे तू महादेव के शिर का चन्द्रमा समझता है वह चन्द्रमा नहीं है, यह राधा के भाल का तिलक है। जिसे तू सहस्त्र फण शेषनाग समझता है वह शेषनाग नहीं है, राधा के शिर की गूँथी हुई चोटी है, कबरी यह केशपाश है। जिसे शिव शरीर की भभूति समझता है वह भभूति नहीं है, शरीर में लगा हुआ चन्दन है।

विभावना—इस अलंकार में कारण—कार्य का सम्बन्ध रहता है। कभी कारण के बिना अपूर्ण कारण से कभी प्रतिबन्धक होते हुए भी कार्य की सिद्धि दिखलाई जाती है यथा :—

अपूर्ण कारण से पूर्ण का होना—
जद्यपि वे उत्कुसल समर बल ऐ इत अति बल हीठ।
तदपि निदरि पट जात पलक में जूझत देत न पीठ॥

इन पंक्तियों में प्रथम नेत्रों को निर्बल बता कर सबल से युद्ध करने वाला कहा है। इसे अत्यंत निर्बलता में कारण की हीनता बता कर युद्ध रूप कार्य का सम्पादित होना कहा गया है। अतः अपूर्ण कारण से पूर्ण कार्य की

सिद्धि होने से विभावना अलंकार है। एक दूसरी उक्ति इन्हीं पंक्तियों में घूंघटपट जो कार्य सिद्धि के लिये प्रतिबन्धक है नेत्रों द्वारा निरादृत किया जाता है और प्रतिबन्धक कार्य की सिद्धि में बाधक नहीं बनने दिया जाता। इस उक्ति में भी विभावना का एक अपर भेद स्वीकार किया जायगा। नीचे की पंक्ति में कारण के बिना कार्य सिद्धि हो रही है—

(१) जाकी कृपा पंगुगिरि लंघे अन्धे को सब कुछ दरसाई।

(२) मुरली सुनत अचल चले।

विशेषोक्ति—इस अलंकार में कारण के रहते हुए इस कार्य का न होना दिखलाया जाता है। यथा—

अब छवि गयी समाय हिये में टारत हूँ न टरी।

छवि हृदय में ऐसी समा गई कि वह हटाने से भी नहीं हटती। हटाना कारण है, परन्तु छवि का विचलित न होना जो कार्य रूप है विशेषोक्ति अलंकार को निष्पन्न कर रहा है।

यह आतुर छवि लै उर धारति नैकु नहीं तृपताति।

दोनों उदाहरणों में कारण के रहते हुए भी कार्य की सिद्धि नहीं हो रही है। छवि विद्यमान है। परन्तु तृप्ति रूप फल हाथ नहीं लग रहा है। अलंकार स्पष्ट है साथ ही उसके द्वारा भगवान कृष्ण का सौन्दर्य भी स्पष्टतर हो रहा है। गोपिकाओं की आँखें 'हरि छविपान' के लिये प्यासी बनी हुई हैं। इस छवि को आँखों के द्वार से वे हृदय में ले जा कर प्रतिष्ठित कर लेती हैं। परन्तु जो तृप्ति होनी चाहिये वह नहीं होती है। एक गोपी क्या सहस्त्रों गोपियाँ मिल कर उस छवि का अन्त नहीं पा सकतीं। सूर की बन्द आँखें भी इस छवि का वही प्रभावी रूप अपने सामने ले आती हैं।

स्वभावोक्ति—इस अलंकार में उक्ति की स्वाभाविकता को चमत्कार उत्पन्न करने वाला माना गया है। वैसे तो सूर की सभी उक्तियाँ स्वाभाविक हैं। वे अनुभूति की सहजसंगिनी हैं। इनमें घरेलू व्यवहार की बातें इतने सरल ढंग से अभिव्यक्त हुई हैं कि कहीं भी कृत्रिमता का लेश भी नहीं जान पड़ता। प्रकृति का जैसा रूप है और उसका जैसा प्रभाव कवि के हृदय पर

पड़ा है उसे कवि ने अपने पदों में ज्यों का त्यों उपस्थित कर दिया है। बालक जैसी चेष्टायें करते हैं, उन्हें ठीक उसी रूप में उपस्थित कर देना सूर के लिये अतीव सहज बन पड़ा है। भावना स्वाभावोक्ति में यदि साकार न हो उठी तो कवि का अपना रूप ही व्यर्थ हो जायगा। स्वाभावोक्तियाँ कवि की भावानुभूति को सर्व सामान्य द्वारा ग्राह्य बना देती हैं। उन की मार्मिकता का प्रधान कारण निश्छल एवं निर्व्याज वर्णन ही है। प्रसादगुण ऐसी उक्तियों का सहज गुण है। जिस कवि के पास सम्वेदन सहानुभूति एवं तादात्म्य की जितनी ही अधिक मात्रा है उतना ही अधिक वह जनमानस के समीप है। सूर में यह विशेषता बाहुल्य से है। तुलसी सामाजिकता की चपेट में अथवा व्यावहारिकता में अनुषंग में इस सहानुभूति से कभी-कभी वंचित हो जाते हैं। कतिपय सामाजिक वर्गों द्वारा रामचरित मानस की होली जलाना इस संदर्भ में उपस्थित किया जा सकता है। पर सूरसागर को इस प्रकार की स्थिति का सामना आज तक नहीं करना पड़ा, यह उसकी जनमानस के इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। शोभा के आगार कृष्ण को जो निकुंज विश्राम दे रहा है वह वर्णन की शक्ति में नहीं आता :—

(१) यह निकुंज को वर्णन करि-करि वेद पचि हार।
नेति-नेति करि कह्यो सहज विधि तऊ न पायो पार ॥

सूरसागर के निम्नांकित पद को भी देखिये :—

देखेहु अनदेखे से लागत,
जद्यपि करत रंग भरे एकहि इक टक रहै
निमिष नहिं त्यागत,

गोपियाँ कृष्ण को देख रही हैं, पर क्या वे उन्हें पूर्णतः देख सकेंगी? नहीं। उनका परिपूर्ण ज्ञान यहाँ किसी को भी नहीं हो सकता। उपनिषदकार के शब्दों में—यथै तदनु शिष्यादन्य देव तदविदितादथो अविदिता दधि।' एक कारण और है। सूर कहते हैं:—

स्याम सों काहे की पहिचानि,
निमिष वह रूप न वह छवि रति कीजै जेहि जानि ॥

श्याम का सौन्दर्य पल-पल में नूतन रूप धारण करता है। सौन्दर्य की परिभाषा भी यही है, जो बासी होकर भगवान की रुचिरता-प्रियता

पर अंकुश लगा दे वह सौन्दर्य हो ही नहीं सकता। सूर ने अलंकारों का प्रयोग अलंकारों के लिए नहीं, अपने इष्ट के सौन्दर्य और गुणों के उत्कर्ष-बर्धन के लिए किया है। इससे कला-कला के लिए नहीं रह जाती, उससे एक महत्, उद्देश्य की सिद्धि होने लगती है और कला को जीवन के निकट लाया जाता है। हृदय से तादात्म्य की वृत्ति का ही परिचायक है। वे तुलसी के समान किसी की निन्दा में नहीं पड़ते और न किसी के दिल को ही दुखाते हैं। वे उन भावों के शिल्पी हैं जिन्हें जन-जनमानस की निधि कहा जा सकता है। 'भ्रमरगीत' में जो उपालंभ और व्यंग्य आये हैं, वे भी कटूक्तियाँ नहीं, सरस, एवं सहृदय सम्वेद्य उक्तियाँ हैं। सूर की स्वाभावोक्तियों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

(१) सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुन चलत रेंनु तन मण्डित मुख दधि लेप किये।
(२) मैया कबहि बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूध पियत भई यह अजहूं है छोटी।
(३) देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
द्वार खड़ी एक टक मग जोवत ऊरध स्वास न लेत।
(४) ऊधो जाउ तुम्हें हम जाने।

× × ×

सांच कहों तुमको अपनी सों बूझत बात निदाने।
सूर श्याम जब तुमहि पठाये तब नेकहु मुस्काने।

जो स्वाभाविकता उपर्युक्त पदों की उक्तियों में है वही सूर के विनय के पदों में भी पर लक्षित होती है। एक पद देखिये:—

प्रभु मेरे गुन अवगुन न विचारौ।
कीजै लाज सरन आये की रविसुत भास निवारौ॥
जोग जग्य जप तप नहिं कीन्हो वेद विमल नहिं भाख्यो।
अति रस लुब्धस्वान जूठनि ज्यों अनत नहीं चित राख्यो॥

सम्भव है इन पंक्तियों को पढ़कर कोई सूर पर जपतप न करने का आरोप लगावे, पर सूर का हृदय इन पंक्तियों में भगवान के समक्ष फूट पड़ा है। साधक किसी से दुराव नहीं करता। फिर भगवान के सामने कोई करना

भीचाहे तो कर भीनहीं सकता। हृदय का यही अकपट प्रकटन स्वाभावोक्ति का प्राण है। समग्र सूरसागर इस स्वाभावोक्ति से भरा पड़ा है। इसी श्रोत से अन्य अलंकार रूप धारायें प्रवाहित होकर सूरसागर को सद्यः सुषमा से मण्डित कर रही हैं। 'सूरसौरभ' में अलंकार प्रकरण में समुच्चय दृष्टान्त, उदाहरण, उदस्त, निदर्शना, परिकर, समासोक्ति, व्याजोक्ति, सहोक्ति, अन्योक्ति, लोकोक्ति, पर्यायोक्ति, गूढ़ोक्ति, काव्यलिंग, यथासाँख्य, सम, प्रत्यनीक, आक्षेप, परिवृत्ति, पयार्य, प्रहर्षण, विषादन, व्याघात, विकल्प, विषभ, अर्थातरन्यास, अन्योन्नि, तदगुण, अनुगुन, मीलित, सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट और संकर के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये गए हैं। सूरदास ने इन अलंकारों के द्वारा वस्तु वर्णन किया है, दृश्यचित्रण किया है और भाव-सौन्दर्य को अभिव्यक्ति दी है। वाह्य एवं आंतरिक लावण्य के अनेक ललित चित्र इन अलंकारों द्वारा प्रकाश में आये हैं। सूर ने अति प्राकृत को जो अति प्रकृत रूप दिया है, अलौकिक को लौकिक बनाया है, स्वर्ग से उतारकर पृथ्वी के प्रांगण में खेलते हुए दिखाया गया है, । वह स्वतः अतीव महिमामय है। सूर का साधकरूप उनके कविरूप के साथ मिलकर सखाभाव को प्राप्त हो गया है। सख्यभाव की भक्ति एक ओर और काव्य-कला में कवि की कला में निहित सहृदयता एवं स्वाभाविकता दूसरी ओर सूरसागर के दक्षिण एवं बाम पन्थों की एकता की ओर ले जा रही है। साधना और सरस हो गई है।

चतुर्थ अध्याय

छन्दयोजना

सूरसागर गीति काव्य है। गीति-काव्य की परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। जैसा अन्यत्र लिख चुके हैं—सामवेद गीति वेद है। इसमें जितने मन्त्र हैं वे गीतियों के योनि मन्त्र कहलाते हैं। इन मन्त्रों पर जो गीतिकाएँ बनी हैं, उन्हीं की आख्यासाम है। जैमिनि सूत्र, पर्व मीमाँसा २-१-३६ में गीतिषु सामाख्या कहकर उसी तथ्य पर प्रकाश डाला गया है। साम की गति स्वर है। साम का अपना रूप स्वरों के आरोह-अवरोह पर ही अवलम्बित है। नारदीय शिक्षा के सात स्वर हैं—३ ग्राम हैं और २१ मूर्छनायें हैं। सामवेद के आचार्यों में शणायन, व्यास, भागुरि, कार्णट, कुथुम, जैमिनि आदि १३ ऋषियों की गणना है। सामवेदियों में चार प्रकार के गान प्रचलित थे:--ग्राम गेय, आरण्य गेय, ऊह गान तथा ऊह्य अथवा रहस्य गान। ग्राम गान तथा आरण्य गान की प्रणाली सुदूर वैदिक काल से चलकर अनेक काल रूपों को अतिक्रान्त करती हुई आजतक भारत वर्ष में प्रचलित है। होली के अनेक रूप फाग, ग्राम अन्तरगत नहीं गाये जाते। सामवेद के रथन्तर, वैरूप, वैराज वाम देव्य, गायत्र, रैवत, वृहत आदि गान यज्ञ के समय गाये जाते थे। यज्ञों के

साथ अन्य धार्मिक कृत्यों सामाजिक पर्वों और उत्सवों में भी इन गानों का प्रचार था। समाज की सकुलता एवं आर्थिक संघर्ष की प्रबलता के साथ-साथ गीतों के रूप में भी परिवर्तन हुआ। एक समय जो विनोद के साधन थे वही विक्षोभ के उत्तेजक बन बैठे। साधारण शाँत वातावरण में माधुर्य और प्रसाद गुण वाले गीत मनोरंजन के साथ संस्कृति के वाहक भी बनते हैं। विप्लव एवं विरोध के समय ओज से समन्वित होकर वही गीत वीरोत्साह का संचार करने वाले बन जाते हैं। सूर ने जिस युग में अपनी रचना प्रारंभ की, वह युग भक्तियुग के नाम से विख्यात है। इस युग के अनुकूल ही सूर की गीति प्रणाली है।

सूर को यह गीति शैली जयदेव,गोवर्धनाचार्य, जगद्धर भट्ट लीला शुक विद्यापति, कबीर आदि से रिक्थ के रूपों में प्राप्त हुई थी। वीरगाथाकाल की वीर प्रशस्तियों तथा वीरगीतों का प्रभाव सूर की रचना पर नहीं पड़ा। कबीर जैसे सन्तों की वाणी का प्रभाव सूर पर अवश्य पड़ा है। सन्तों की पदावली में जैसे शब्द हैं, जैसा वाक्य-विन्यास है और जैसी भावधारा है सूर के पदों में भी उसी प्रकार की है। आचार्य वल्लभ से भेंट के उपरान्त उनकी गीतिधारा में एक मोड़ आया जो लीला गायन से विशेष सम्बद्ध है। उनकी पदावली की कोमलता जयदेव सरस्वती की सुकुमारता से बहुत कुछ समता रखती है। उनकी शृंगारी भावना भी जयदेव और विद्यापति से ही मेल खाती है। इस समानता के होते हुए भी सूर अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर सबसे पृथक खड़े हैं। उनके मातृ हृदय का चित्रण,संयोग एवं विप्रलम्भ शृंगार के नाना मनोरम रूप और बाल-लीला के हृदयहारी स्वाभाविक रूपों के चित्रण अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होते। उन्होंने जिस सूक्ष्म संकेत प्रणाली पर आध्यात्मिक तत्वों को उपन्यस्त किया है वे उनकी अपनी विशेषता से समलंकृत हैं।

गीति काव्य में आत्माभिव्यंजन, आत्मनिवेदन तथा हार्दिक उद्गारों का प्रकटीकरण जितने उत्कृष्ट रूप में हो सकता है उतना अन्य काव्य-शैलियों में सम्भव नहीं है। मुक्तक काव्य-रचना के लिए गीतिशैली अत्यन्त उपयुक्त है। जिसे भाव की एक-एक शृंखला को सुसज्जित गुलदस्ते में रूप में सजाना है, भावधारा की एक-एक लहर का सजीव चित्र उपस्थित करना है, अपनी अनुभूति का अंग-अंग आकर्षक रूप में प्रकट करना है उसके लिए गीति शैली ही सर्वश्रेष्ठ एवं उपादेय शैली है। सूर ने इसी शैली में हरिलीला का गायन

किया है। इन गीतों में गौरी, विहाग, नट, सारंग, केदार, मल्हार, सोरठा, जैत श्री, धनाश्री आदि अनेक राग-रागनियां पायी जाती हैं। कुछ राग और रागनियां ऐसी भी हैं जिनके लक्षण भी अब प्राप्त नहीं हैं। ऐसी राग-रागनियाँ या तो सूर की अपनी सृष्टि हैं अथवा उनका प्रचार अब समाप्त हो गया।

राग और रागिनी संगीत कला के अन्तर्गत हैं। काव्य में छन्द योजना भी सीधे संगीत से ही सम्बद्ध है। छन्द भी गेय होते हैं और राग-रागनियाँ भी, परन्तु दोनों के गायन में किंचित भेद है। छन्द को बिना गाये भी सुनाया जा सकता है परन्तु राग-रागिनी का नाम जहाँ आता है वहाँ उनकी विशिष्ट स्वरमयता, संगीतात्मकता, वाद्य ताल और ध्वनि एक साथ सामने खड़े हो जाते हैं। छन्द की अपेक्षा राग का प्रभाव अधिक है। इन रागों में सूर की प्रकृत रूप से प्रस्रवित होने वाली स्वाभाविक भावप्रवाह और सरल साधु एवं प्रसन्न पदावलि की प्रधानता है। उनमें लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं। संगीत का माधुर्य, स्वरावलि की मसृणता तथा काव्य श्रृंगार-प्रवणता जिस दक्षता के साथ सूरसागर में प्रतिबिम्बित हुई हैं, उससे सूर की काव्य-कौमुदी में संगीत का सौन्दर्य जगमगा उठा है। चौरासीवार्ता: सूर को गायन कला में निपुण बताती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे वीणा पाणि सरस्वती अपने पुत्र की जिह्वा पर आकर स्वयं बैठ गयी हों। आचार्य वल्लभ-मिलन के उपराँत गीतियों की जो अजस्रधारा प्रवाहित हुई, उसने सूर की रचनाओं को सागर में परणित कर दिया।

गीतियों के अतिरिक्त पन्द्रह मात्राओं के चौपाई[1] तथा चौबोला[2] और सोलह मात्राओं की चौपाई नाम के छन्द भी सूरसागर में पाये जाते हैं, परन्तु उनकी गणना पदों के अन्तर्गत ही की गई है। इन पदों में कहीं-कहीं पर चौपाई की पचास अर्द्धालियाँ तक हैं। सूरसागर के तृतीय चतुर्थ पंचम षष्ट, सप्तम और द्वादस स्कन्ध अधिकतर इन्हीं छंदों में हैं। अन्य स्कन्धों में भी ये छन्द इधर-उधर बिखरे पड़े हैं। कहीं-कहीं पर बारह मात्राओं के तोमर[3] १३ मात्राओं के चण्डिका[4] १४ मात्राओं के मानव[5] तथा १६ मात्राओं के डिल्ला छन्द का प्रयोग है। दोहे भी कई पदों के अन्तर्गत हैं। यथा:—

(१) चौपाई—हरि-हरि-हरि सुमरौ सब कोई।
हरि हरि-हरि सुमिरंत सब सुख होई॥ ३४८॥

(२) चौबोला–हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ ।
हरि चरनाबिन्द उर धरौ ॥३९७॥

चौपाई तथा चौबोला दोनों ही छन्द १५ मात्राओं के हैं । अन्तर केवल इतना है कि चौपई के अन्त में गुरु लघु तथा चौबोला के अन्त में लघु गुरु होते हैं । चौपाई छन्द में १६ मात्रायें होती हैं । यथा ।

शिव की लागी हरिपद तारी । ताते नहिं उन आँखि उघारी ॥३९९॥

(३) तोमर—सुनि थके देव विमान सुर वधु चित्र समान ॥१२४१॥

(४) चण्डिका—रस रसिक गुन गाइ हो ॥१७९८॥
परन्तु इसके अन्त में रगण का प्रयोग सर्वत्र नहीं हुआ है ।

(५) मानव—गुरु बिनु ऐसी कौन करै ॥४१७॥

प्यारी अंग सिंगार कियो ॥२६४५॥ आदि कई पदों की टेकइसी छन्द में है ।

(६) ड़िल्ला—महराज यह रूप दुरावहु । ४२१ ॥ अन्त में भगण होता है ।

(७) दोहा— भौरी भोगी बनभ्रमै मोदन माने ताप ।
सब कुसुमनि मिलि रस करै कमल बधावै आप ।३२५॥

पद संख्या ६४५, ६५८, ६६०, २२५८ दोहे छन्द में ही लिखे गये हैं।

सूर ने कई पदों में छन्दों के समिश्रत रूप का प्रयोग किया है । नागरी प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित पद संख्या ३४४६ में चौपाइयाँ, दोहे, सोरठे, तथा हरिगीतिका छन्दों का प्रयोग किया है। पद संख्या ३२३१ में प्रथम ८ मात्राओं का छवि नाम का छन्द है यथा नवनागरि हो । फिर द्वितीय पंक्ति में दस मात्राओं का छन्द है यथा—हरि भुज ग्रीवा हो । छन्द प्रभाकर में दस मात्राओं के छन्द का नाम दीप है, परन्तु उसके अन्त में गुरु लघु का नियम है जो सूर के छन्द पर घटित नहीं होता । पद संख्या ४७११ की टेक भी सूर ने इसी दस मात्राओं के छन्द में लिखी है । यथा—हरि रथ रतन जरयो । जिहि पग कान्ह गयो । पद ३२३१ की तृतीय पंक्ति में तेरह मात्राओं का उल्लाला छन्द है यथा-स्याम छबीली भावती ।' इन छन्दों के पश्चात पद के अन्त में दोहे हैं जो अपनी गरिमा एवं शैली-सौष्ठव में अद्वितीय हैं । पदों के अन्तर्गत जो ब्रन्द या

कड़ियां हैं वे भी प्रस्तार के अनुसार किसी न किसी छन्द पर आश्रित हैं। निम्नांकित पदों में २१ मात्राओं के सन्त छन्द का प्रयोग हुआ है।

(१) सनकादिक नारद मुनि, सिव विरंचि जान।
देव दुदुंभि मृदंग वाजे वर निसान॥

(२) बन्सी बनराज आज आई रन जीति।

२४ मात्राओं के रूपमाला छन्द का भी प्रयोग सूरसागर में हुआ है। यथा--नन्द सुत संग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात।
कोउ कहति मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाय।
कोउ कहति मोहि देखि द्वारें उतहि गये पराय ॥ ८९१ ॥

कतिपय छन्दों में जो बन्द या कड़ियां हैं उनमें से कुछ समान सवैये छन्द में हैं जो ३२ मात्राओं का होता है। यथा:--सूरदास प्रभु के रस बस सब भवन काजते भई उजाढ़ी॥ कुछ वीर छन्द में है जो ३१ मात्राओं का होता है यथा:--दधि माखन चोरी हरि लै हरि ग्वाल सखा संग खात। कहीं कहीं एक मात्रा बढ़ाकर २८ मात्राओं के सार छन्द की कड़ियाँ रक्खी गई हैं-- ब्रज बनिता यह सुनि मन हरसत सदन हमारे आवै।

सूरसारावली के पद बन्द सरसी तथा सार छन्दों में लिखे गये हैं। २८ मात्राओं का एकयौगिक छन्द भी होता है जिसकी ध्वनि सार छन्द तथा हरि गीतिका छन्द दोनों ही से भिन्न होती है। पद संख्या ४७९८ इसी छन्द में लिखा गया है यथा--

सोच पोच निवारि री उठि देखि दीन दयाल आयो।

३० मात्रा के चवपैया छन्द का भी प्रयोग सूर ने किया है यथा--

ऊधौ जिन जानी मन कुम्हिलानी कृष्ण सन्देश पठायो।४७११।

कुछ पद कुण्डल छन्द में लिखे गए हैं जिसमें २२ मात्रायें होती हैं यथा--

(१) ग्वालिनि घर गये जानि सांझ की अंधेरी।
आनंद उर नहिं समाय बात है अनेरी ॥ ४८९३ ॥

(२) विनु गोपाल और मोहि ऐसो को संवारै।
आपु हँसत दौरि मिलै उरते नहिं हारै॥

(३) सीतापति सेबक तोहि देखन को आयो।
काके बल बैर तै जु राम तैं बढ़ायो ॥ ५४१ ॥

२२ मात्राओं का एक सुखदा छन्द होता है। इसका प्रयोग सूरसागर में हुआ है। यथा--

अखियन ते री स्याम को प्यारो नहिं और ॥ ३०२६ ॥

४६ मात्राओं का हरिप्रिया नामक छन्द होता है जिसमें १२, १२,१२ और १० मात्राओं पर यति होती है, इस छन्द के आधार पर भी कुछ पदों का निर्माण सूर ने किया है। यथा :—

(१) जसुमति धौ देखि आनि आगे ह्वै लै पिछानि,
बहिया गहि ल्याइ कुंवर और कोकि तेरो। ८९४ ॥

(२) सीतल चन्दन कटाउ, धरि खराद रंग लाउ।
विविध चौकरी बताउ, धाय रे बनैया।६५९॥

(३) जागिए गुपाल लाल आनन्द निधि नंद बल;
जसुमति कहै बार-बार भोर भये प्यारे।८२३।

इससे मिलता जुलता छन्द पद संख्या २००२ में प्रयुक्त हुआ है, परंतु उसके अन्त में ध्वनि भिन्न है और अन्तिम में 'री' की मात्राओं को लेकर मात्रायें ४७ हैं। पद संख्या ४७८१ रोला छन्द में लिखा गया है। यथा:—

बार सत्तरह जरासन्ध मथुरा चढ़ि आयो।

× × ×

गये द्वारिका स्याम राम जस सूरज गायो।

२३ मात्राओं के उपमान छन्द का भी प्रयोग कई पदों में हुआ है यथा:-

सुन्दर ढोटा कौन को सुन्दर मृदु बानी।
कहि समुझायो ग्वालिनी जायौ नन्दरानी।१०९६॥

कुछ पद २४ मात्राओं में लिखे गये हैं। यह रूपमाला होता है यथा:—

वेगि धावहु कहि पठावहु द्वारिका लौं जाइ ॥

३७ मात्राओं का करखा छन्द जिसके अन्त में य ग ण होता है, सूर ने पद में बांधा है। पद संख्या ४८०१ की निम्नांकित पंक्तियाँ देखिये:—

अपने बान सो काटि ध्वज रुक्म को अस्व अठ सारथी तुरत मारे।

× × ×

सुनत द्वारावती माँहि उत्सव भयो सूर जन मंगलाचार गायो।

सूरसागर के पदसंख्या ४८१२, ४८१४, ४८१५, ४८१६, और ४८२५

२६, २७, ३१, ३३ आदि में भी इसी छन्द का प्रयोग हुआ है।

पदसंख्या ४८०,४, ५, ६, में कई छन्दों का समिश्रण है। प्रथम दो पदों में सर्वप्रथम चौपाई नामक छन्द हैं, उसके पश्चात प्रथम पद में हरि-गीतिका छन्द की पंक्तियां हैं तथा द्वितीय पद में हरि गीतिका नामक छन्द है। इन दोनों पदों में कहीं १४ मात्राओं के सखी छन्द हैं, कहीं १७, १८ मात्राओं के हरि छन्द की ध्वनि के छंद हैं यथा:—

नरहरि-कुंवरि रुक्मिनी कमला अवतारी।
ससि षोडस कला सोभा तनधारी ।।
सोधि महूरत चौरी बिधि रची ।।

नरहरि छंद १९ (१४+५) मात्राओं का होता है पर यहां किसी पंक्ति में १७ और किसी में १८ मात्रायें है। ध्वनि नरहरि छंद के ही समान है-

सखी छन्द— (१) कछु कहि न जाय गति ताकी।
नित रहत मदन मद झाँकी ।।
(२) अब तुमहो परम सयाने ।
तुम ठाकुर सब जग जाने ।।

पदसंख्या २२३ ध्वनि छंदों से मिलकर बना है। टेक रूप में दो पंक्तियाँ २१ मात्राओं वाले प्लवंगम छंद की हैं। यथा:—

सुनि तमचुर को सोर घोस की बागरी।
नवसत साजि सिंगार चली नव नागरी ।।

इसके पश्चात रोला के दो चरण तथा एक दोहा रखकर पद की कड़ी पूरी की गई है। कड़ी के अन्त में 'सबै व्रज नागरी चली व्रज नागरि जहाँ नन्द लाड़िलौ कहति व्रज नागरी कहत व्रज लाड़िलौ आदि पंक्तियाँ टेक रूप में रक्खी गई हैं। ऐसी ४४ कड़ियाँ इसके अन्तर्गत हैं।

यह संख्या १११० (व्रज लीला देखि ज्ञान विधि को गयो) तथा १२०७ (नारद कही समुझाई कंस नृप राज कौं) भी इसी प्रकार इन्हीं तीन छँदों का समिश्रित रूप है।

पद संख्य १८०० में प्रथम १८ मात्राओं का माली या राजीव गण फिर २६ मात्राओं का गीतिका छन्द है। चार बन्दों या छन्द समूहों तक यही

क्रम चला है। इसके पश्चात् १९ मात्राओं का सुमेरु छन्द है यथा—अद्भुत रास रच्यौ गिरधर लाड़िले। इसके उपरान्त दस मात्राओं का दैशिक छन्द है फिर गीतिका और दोहा है। उसके उपरान्त १४ मात्राओं के सखी छन्द की तीन अर्धालियाँ, फिर दोहा, फिर सखी छन्द की ४ अर्धालियाँ और इसकी पुनरावृति आगे दो बन्दों तक, उसके उपरान्त दोहा और सखी छन्द की ८ अर्धालियाँ हैं।

पद संख्या ४८०६ में सर्व प्रथम चन्द्रायण छन्द की दो पंक्तियाँ हैं। प्रत्येक पंक्ति में २१ मात्रायें हैं। उसके पश्चात रोला छन्द के दो चरण हैं और उसके उपरान्त एक दोहा है। तत्पश्चात रोला और दोहा पद के अन्त तक चले गये हैं। पद संख्या ४८२८ की टेक भी चन्द्रायण छन्द में है। यथा :— हरि की लीला देखि नारद चकित भये, मन यह करत विचार गोमती तटै गये। पद संख्या १२७० मुरली ध्वनि स्रवन सुनत भवन रहि न परै—२१ मात्राओं वाले सन्त छन्द में है।

पद संख्या ४८१२ की टेक १७ मात्राओं वाले चन्द्र छन्द में है। यथा :—

रटति (कृष्ण) गोविन्द हरि-हरि मुरारी।
भक्त भय हरन असुरान्त कारी॥

पद संख्या १२०८ की टेक (कमल सकटनि भरे व्याल मानो) इसी छन्द में है। पद संख्या २५९३ इसी छन्द में है। यथा :—

कहाँ वह मोति सर्म जो गंवाई·········नैन भरि लेति कह और नाँही॥

वार्णिक छन्दों का प्रयोग सूरसागर में बहुत कम हुआ है। पद संख्या २०९५ (दशमस्कन्ध १४७७) ३० वर्णों के छन्द में लिखा गया है। छन्द्र प्रभाकर में ३० वर्णों का एक नीलचक्र नाम लिखा है, परन्तु उसमें गुरु लघु अक्षरों का नियम है। सूर के छन्द में इस नियम का निर्वाह नहीं पाया जाता उसमें ७, ९, ८ और ६ अक्षरों पर यति रखी गई है अन्त में दो गुरु हैं। यथाः—

तोहि कारी कामरि, लकुटि अब भूलि गई, गई नव पीताम्बर दुहुँ करिन विलासी। इसी प्रकार का ३० वर्णों का छन्द संख्या ७७ में है पर उसमें ८, ८, ८ और ६ वर्णों पर यति रखी गई है। अन्त में गुरु लघु है। यथा :—

तेरो तव तिहि दिन को, हितू हो हरि बिनु सुधि करि कै कृपान तिहि चित आनि।

पद संख्या ९८० तथा ३५६४ इसी छन्द में हैं। यथा :—

वारौ हौ वे कर जिन हरि कौ वदन छुयो,
वारौ रसना सो जिहि बोल्यो है तुँकारि।

पद संख्या ९९१ में यति इसी प्रकार है पर अन्त में गुरु लघु के स्थान पर गुरु लघु है यथा—काहे कौं जसोदा मैया, मारयौ तैं बारौ कन्हैया, मोहन हमारो भैया कतौ दधि पियतो। पद संख्या १०८५ में ३० वर्णों का एक ही छन्द है पर ऊपर वर्णित छन्दों में से किसी की भी यति का उसमें निर्वाह नहीं है। ग्वाल मण्डली में बैठे मोहन वट की छाँह, दुपहर विरिया सखनि संग लीन्हें।

अष्टम स्कन्ध का निम्नांकित पद ३१ वर्णों वाले घनाक्षरी छन्द में है। यथा :—

झाईं न मिटन पायी, आये हरि आतुर ह्वै, जान्यों जब गज ग्राह लिये जात जल में। (५), (४३२), ६४८, ६४९, ६५२, २००२ (दसमस्कन्ध १३८५) २०५३, २०९६ तथा २३५२ इसी छन्द में हैं। सूर ने इन घनाक्षरियों में ८+८+८+७ वर्णों पर यति दी है।

पद संख्या ७६९ जलहरण छन्द में हैं जिसमें ३२ वर्ण होते हैं और प्रत्येक चरण के अन्त में २ लघु होते हैं। यथा :—

छोटी-छोटी गोड़ियाँ, अगुरियाँ छबीली छोटी, नख जोति मोती मानो कमल दलनि पर।

पद संख्या २०१९ भी छन्द में है। यथा :—

चटकीलो पट लपटानों कटि पर,
वन्सी वट जमुना तट राजत नागर नट।

सूर ने २८ वर्णों के भी एक छन्द का वर्णन किया है जिसके अन्त में दो गुरू होते हैं। छन्द प्रभाकर में २८ वर्णों वाले एक महीधर छन्द का नाम दिया है, परन्तु उसके लक्षण सूर रचित छन्द से नहीं मिलते। महीधर में लघु गुरु का नियम है जो प्रत्येक चरण में क्रमशः चौदह-चौदह होते हैं, सूर ने २८ वर्णों के जिस छन्द का प्रयोग किया है उसमें इस नियम के स्थान पर प्रथम ८, ८ अक्षरों पर तीन बार यति पाई जाती है और अन्तिम चार अक्षरों में एक गुरु, एक लघु और दो गुरु हैं। यथा :—

स्याम सुन्दर आवत, बन तें बने भावत,
आजु देखि-देखि छबि नैन रीझे ।
सीस पै मुकुट डाल स्रवन कुण्डल लोल,
भृकुटि धनुष नैन खंज खी झो ।
दसन दामिनी ज्योति उर पर माल मोति,
ग्वाल बाल संग आबे रंग भीजे ।
सूर प्रभु राम स्याम सन्तनि के सुखधाम,
अंग-अंग प्रति छवि देखि जीजै ॥ १९९२ ॥

ऊपर सूर की छन्द-योजना के सम्बन्ध में जो अनुशीलन किया गया है उससे प्रकट होता है कि सूर ने पद लिखने में अनेक ध्वनियों का संयोजन किया है। भाव वैविध्य स्वत: अनेक लहरियों से क्रीड़ा करता है। जैसा मानस अन्दर है वैसा ही बाहर है। जो तरंगे अन्दर उठती हैं उनका सम्पर्क और संघर्ष बाह्य तरंगों से भी होता है। तरंगे बाहर भी गुंजायमान होती हैं और भीतर भी। अन्दर की गूंज कण्ठताल, मूर्द्धा आदि स्पर्श करती हुयी बाह्य वैखरी वाणी के रूप में प्रकट हो जाती है। सूर के मानस में जो तरंग सान्द्र रूप वाली हैं उन्होंने गेय पदों का रूप धारण कर लिया है। जो लहरें विचारात्मक हैं अथवा कथा सूत्र से सम्बन्ध रखती हैं उन्होंने सूर सागर में दोहे चौपाईयों का रूप धारण किया है। सूर की रागात्मिका वृति का सम्बन्ध दोनों के ही साथ है परन्तु यह गीतियों के साथ उसका पूर्णतया प्रफुल्लित रूप है।

सूर ने जिन लीलाओं को बार-बार गाया है, जैसे भ्रमर गीत, रास, बाल लीला आदि उनमें सूर की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा का प्रस्फुटन प्रतीव विशद एवं आल्हादकारक है और मानव मन को बहुत देर तक रमणीयिता में रमण कराने वाला है। सूर के पद श्रीनाथ मन्दिर की सेवा से प्रभावित होकर गाये गये हैं, यह सत्य है, परन्तु अधिकांश पदों की रचना स्वतन्त्र चैतन्य की भावमयी अवस्था में हुयी है और उन पर सम्प्रदायिकता का कोई भी प्रभाव नहीं है। इन पदों ने सूर को हिन्दी-कवियों में मूर्धन्य स्थान का अधिकारी बनाया है। कवि कविता लिख जाता है, इससे उसके अन्त:करण को सुख अवश्य मिलता है, परन्तु सामाजिक भावक रूप में उस कविता से जो प्रभाव ग्रहण करता है वह कवि की कविता का वास्तविक मूल्यांकन करने में और कवि को स्थाई अथवा अस्थायी कवियों की पंक्ति में बिठाने में निर्णायक का कार्य करता है। इस प्रभाव से उत्पन्न उक्तियाँ चतुर्दिक

बिना किसी प्रयास के फैल जाती हैं। सूर के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित उक्तियाँ न जाने कब से, और कैसे लोकजिह्वा पर आसन जमाये चली आ रही हैं :—

किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर,
किधौं सूर को पद लग्यो तन मन धुनत शरीर।
उत्तम पद कवि गंग के, उपमा को बलबीर,
केसव अर्थ गंभीरता सूर तीन गुन धीर॥

पंचम अध्याय

वस्तु-चित्रण

वस्तु चित्रण में प्रकृति चित्रण तथा नर-नारी का आकृति चित्रण प्रमुख है। प्रकृति चित्रण में ऊषा, सन्ध्या, मध्याह्न, निशीथ, तारकावलि, ऋतु, पर्वत, सरिता, सागर, उद्यान, मरुस्थल, कान्तार, कुंज, कछार, आदि का वर्णन आता है। मानव निर्मित वस्तुएं भी अनेक हैं-प्रसाद, गजपथ, सेना, सभा, गृह, व्यंजन, कृषि विविध व्यापारोपयोगी वस्तुयें इन्हीं के अन्तर्गत हैं। नर-नारी के आकृतिचित्रण में नखशिख वर्णन की प्रधानता है। इसके अतिरिक्त शारीरिक चेष्टायें शोकाकुल अथवा आह्लादित मुखमण्डल उत्साह एवं दर्प से परिपूर्ण, भाल एवं नेत्रऔर नायक और नायिका के विविध भेदगत भी वस्तु चित्रण में आ सकते हैं। चेष्टायें भाव प्रसूत होती हैं अतः उन्हें भावों के अन्तर्गत रक्खा गया है, यद्यपि वे वस्तु चित्रण में परिगणित की जा सकती हैं। प्राकृतिक दृष्यों के चित्रण स्वाभाविक तथा अलंकृत दो रूपों में हो सकते हैं। प्रकृति का अवलम्बनगत, उद्दीपनगत, मानव क्रियाकलाप की क्रीड़ास्थली के रूप में तथा अलंकारों के रूप में साहित्य में चित्रण पाया जाता है। प्रकृति के भयंकर तथा कोमल दो रूप हैं। कोमल रूप में वह शाँत है परन्तु भयंकर रूप में प्रलयंकर उग्र तथा घोर है। कवियों ने उसके दोनों रूपों का अनुभव किया है।

(अ) प्रकृति-चित्रण

प्रकृति का कोमल रूप निम्नाँकित पदों में प्रगट हुआ है। यथाः—

(१) नव वल्ली सुन्दर नव तमाल, नव कमल महा नव नव रसाल।

(२) नव पल्लव बहु सुमन रंग, द्रुम वल्ली तन भयो अनंग ।
भँवरा भँवरी भ्रमत संग, जमुन करत नाना तरंग ।
विविध पवन मन हरषिदेन, सदा बहति नहिं रहत चैन ।

(३) कल्पद्रुम पर छाँह सीतल त्रिविध बहत समीर,
वर लता लटकहिं भार कुसुमन परत जमुना नीर ।
हंस मोर चकोर चातक कोकिला अलि कीर ।

प्रकृति के भयंकर रूप का वर्णन निम्नलिखित पदों में देखिये:—

(१) भहरात, झहरात, दावानल आयो ।
घेरि चहुं ओर करि सोर अन्दोर वनि धरनि आकास चहुं पास छायो ॥
वरत बनवास थर हरत कुस काँस जरि उड़त है वाँस अति प्रबल धायो ।
झपटि झपटत लपट फूल फल चट चटकि फटत लट लटकि द्रुम-द्रुम निवायो ।
अति अगनि झार भंभार धुंधार करि उचट अंगार झंझार छायो ।
बरत बनपात हहरात झहरात अररात तरु महू धरणी गिरायो ।

जो प्रकृति अपने कोमल रूप में मानव-हृदय में सुखदायिनी प्रतीत होती है वही अपने भयंकर रूप में कम्पायमान कर देती है । प्रकृति के दोनों पक्ष विकृत हैं और वैषम्य के सूचक हैं । जब तक यह सृष्टि है तब तक प्रकृति के दोनों रूप मानव के लिए सुखप्रद एवं क्लेशप्रद बने ही रहेंगे । साम्यावस्था में इनका विलय होता है उसके पूर्व नहीं ।

मानव के क्रिया-कलाप की पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का अनेक बार चित्रण सूरसागर में हुआ है । रासलीला के लिए भूमिका तथा रंगभूमि बनी हुई प्रकृति का दृश्य निम्नांकित पद में देखिये:—

आज निसि सोभित सरद सुहाई
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहे रोम-रोम सुखदाई ।
जमुना पुलिन पुनीत परम रुचि-रुचि मन्डली बनाई ॥
राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहिं कुंवर कन्हाई ॥१७५६॥

पद संख्या १६०६ में भी शरद का ऐसा ही वर्णन पाया जाता है। नवम् स्कन्ध में गंगा तथा त्रिवेणी का वर्णन है। अन्यत्र यमुना तथा वन्य कुंजों का वर्णन भी पाया जाता है, पर वह निरा है सुषमा के स्थान पर अलंकृत तथा भाव से आच्छादित अधिक है।

सूर सागर में प्रकृति का मानवीकरण सहृदय सम्वेद्य एवं अनुभूति गम्य है। निम्नांकित पद में कृष्ण को खोजती हुयी गोपियाँ बन लताओं, फूलों, पादपों, पक्षियों से पूँछती हैं :—

> कैधों री बन वेलि कहूँ, तुम देखें हैं नंद नन्दन।
> बूझहुँ मालती किधौ तैं पाये है तनु चन्दन॥
> कैधौं कुंद कदम्ब वाकुल वट चम्पक लता तमाल।
> कैधौं कमल कहाँ कमलापति सुन्दर नयन विसाल॥
> मुरली अधर सुधा रस लै तरु रहे जमुन के तीर।
> क्यों तुलसी तुम सब जानत हो कहँ घन स्याम॥
> कैधौं मृगी कृपा करि हमसों कहि धौ मधुप मराल।
> सूरदास प्रभु कैं तुम संगी हैं कहँ परम दयालि॥

बन की लताओं बताओ, तुमने कहीं श्रीकृष्ण को देखा है। अरी मालती तू ही बता तूने कहीं चन्दन चर्चित शरीर वाले कन्हैया के दर्शन किये हैं। ओ कुन्द, अरे कदम्ब, ओ वट, ओ तमाल, अरी चम्पक लता तुमने कहीं सुन्दर विशाल नेत्र वाले माधव को तो नहीं देखा है। अरे कमल तुम्हीं बता दो कमलापति नाम से तुम्हारा तो विशिष्ट सम्बन्ध है। ओ! यमुना तट पर खड़े वृक्षों तुमने तो कई बार मुरली ध्वनि के श्रवण रूप में कृष्ण के अधरामृत रस का पान किया है। क्या तुम उस छबीले का कुछ पता न बता सकोगे। अच्छा जाने दो तुलसी तुम्हें तो अवश्य ज्ञात होगा, क्योंकि तुम उस घन के समान श्यामल शरीर वाले के वर्ण से समता रखती हो। अरे ये कोई भी नहीं बोल रहे हैं। भोली भाली मृगी तुम्हीं दया करो, कृष्ण के नेत्रों की समता तुम्हारे ही नेत्रों से की जाती है बताओ तो कृष्ण कहाँ मिलेंगे। हाँ मधुप कृष्ण के घुँघराले बाल तुम्हारे समान ही श्यामल हैं। ओ मराल तुम्हारी गति में कृष्ण की गति का सादृश्य है। तुम प्रभु के संगी–साथी हो कुछ बोलो तो उस दीन-दयाल के दर्शन कहाँ होंगे।

पद का एकांगी सम्वाद प्राकृतिक दृश्यों को मानव तुल्य ही चेतन रूप दे रहा है। भारतीय वाङ्मय का यह पक्ष अत्यंत प्रशस्त है और शुद्धाद्वैत की

उस दार्शनिक प्रणाली का भी पोषक है जो जड़ को जड़ मात्र नहीं, ब्रह्मरूपता भी प्रदान करती है।

अलंकारों के रूप में प्रकृत्ति का चित्रण वाहुल्य से हुआ है। इस के अनेक उदाहरण अलंकार योजना शीर्षक प्रकरण में पाठकों को प्राप्त हो चुके हैं। प्रकृति का स्वाभाविक चित्रण निम्नांकित पदों में हुआ है—

बोले तमचुर चारो याम को गजर मारयो।
यौन भयो सीतल रु तम तमता गई॥
प्राची अरुनारी धनि किरिन उजियारी नभ।
छायी उडुगन चन्द्रमा मलिनता लई॥
मुकुले कमल, वच्छ बन्धन विछोही ग्वाल।
चरै चली गाय द्विज पैंती कर को दई॥
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहे।
जागो प्रान प्यारे जू सवारे की समय भई॥

पद में प्रात:काल का सहज अलंकृत चित्रण है। ताम्रचूड़ मुर्गे का बोलना, चारोयामों की समाप्ति, शीतल पवन का प्रवाहित होना, रात्रि के अन्धकार का नष्ट होना प्राची दिशा में अरुणिमा का फूटना, आकाश में उज्जवल किरणों का प्रसरण, नक्षत्रावलि और चन्द्रमा का मलिन पड़ना, कमलों का मुकुलित होना, गायों का बछड़ों को घर पर छोड़ कर जंगल में चरने जाना, ब्राह्मणों का हाथ में पैंती बाँधना और प्रातः कालीन जप अनुष्ठान में प्रवृत्त हो जाना आदि सम्पूर्ण वर्णन प्रातःकाल के पावन दृश्य को उपस्थित कर देता है। भारतीय संस्कृति में प्रात:काल के इसी दृश्य का महत्व है। इसी देश की प्रकृति में ऊषाकालीन यही घटनायें घटित होती देखी जाती हैं। अन्य देशों में ऊषा का यह रूप दिखाई नहीं देता। भारतीय साहित्य में प्रकृति मानव–जीवन की सहचरी बनी हुई है।

उसमें मानव की भाँति ही अनुभूति की क्षमता दिखाई गई है। यहाँ का जन-समुदाय पौ फटते ही उठ बैठता है। वेदकी कई ऋचाओं में भी ऊषा का मनोरम वर्णन उपलब्ध होता है। गोपियां अपने कृष्ण को प्रात.काल के इसी रूप वर्णन द्वारा जगाने का उपक्रम कर रही हैं।

वसंत ऋतु का निरावरण रूप निम्नांकित पंक्तियों में साक्षात हो उठा है:—

सरिता सीतल बहत मन्द गति रवि उत्तर दिसि आयो ।
अति रस भरी कोकिला बोली विरहिनि विरह जगायो ।।
द्वादस बन रतनारे देखियत चहुंदिसि टेसू फूले ।
भौरे अबुंआ अरु द्रुम वेली मधुकर परिमल भूले ।।

यूरोपीय कवि वर्डसवर्थ प्रकृति को अपना गुरु मानता था। उसकी गोद में प्रकृति रूप में ही विचरण करना उसके जीवन की एक बड़ी साध थी। सूर तो व्रज के निसर्ग सुन्दर वातावरण में पालित पोषित हुआ था, तभी तो यहाँ की ऋतुओं का इतना उछलता हुआ अनूठा वर्णन कर सका।वर्षा ऋतु का एक चित्र देखिये :—

बन बनन कोकिल कण्ठ सुनियत करत दादुर सोर।
घन घटा कारी स्वेत बग पंगति निरखि नभ ओर।।
तैसीय दमकति दामिनी तैसोइ अम्बर घोर।
तैसोइ रटत पपीहरा तैसोइ बोलत मोर ।।
तैसीयै हरियरि भूमि विलसति होति नहिं रुचि थोरि।
तैसीयै रंग सुरंग विधि बघु लेति है चित चोरि।।
तैसीयै नन्हीं बूंद बरसति झमकि झमकि झकोर।
तैसीयै भरि सरिता सरोवरि उमंगि चलि भिति फोरि ।।

पद में दादुरों का शोर काली घटायें स्वेत वक पंक्ति, दामिनि का दमकना, पपीहे की पी-पी रट, मयूर की ध्वनि, हरीतिमा रंजित भूमि लाल-लाल वीरवधूटियाँ, नन्हीं-नन्हीं वर्षा की बूंदे, कभी झकोरे देते हुए झमाके की वर्षा, सरिताओं और सरोवरों का तट तोड़कर प्रवाहित होना, सभी बातें वर्षा के निर्मल रूप की अभिव्यक्ति दे रही है।

प्रकृति का अलंकृत चित्रण भी सूर ने किया है । निम्नांकित पद में उत्प्रेक्षा अलंकार चित्रण से प्रातःकाल का वर्णन देखिये।

उगत अरुन विगत सरवरी ससांक किरन हनि
दीन दीप मलिन हीन द्युति समूह तारे।
मनहुं ज्ञान घन प्रकास बीते सब भव विलास,
आस भास तिमिर तोष तरनि तेज जरि ।

अरुणोदय हुआ, रात्रि समाप्त हुई, चन्द्र की किरणें मन्द पड़ गईं ।

दीपक की लौ दैन्य को प्राप्त हो गई--तारिकाओं की द्युति मलिन एवं क्षीण हो गई। इस दृश्य को देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है मानों सघन ज्ञान के प्रकाशित होते ही समग्र भवविलास समाप्त हो गया सन्तोष रूपी सूर्य के तेज ने आशा और भास के तिमिर को भस्म कर दिया।

ऋतुराज वसंत का अलंकृत चित्रण निम्नाँकित पद में हुआ है :–

देखत बन व्रजनाथ आज अति उपजत है अनुराग।
मानहुं मदन वसंत मिले द्वौ खेलत फूले फाग।
झांझ झालरन झर निसान ढफ भवर भेरि गुंजार।
मानहुं मदन मण्डली रचिपुर वीथिन विपिन विहार॥

यह पद बड़ा है। हमने चार पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। पद में बासन्ती दृश्य अलंकारों के द्वारा स्पष्ट हो उठा है। कवि कहता है मदन और बसन्त दोनों मिलकर फाग खेल रहे हैं। चारो ओर झाँझ, ढफ और भेरियों की गुंजार हो रही है। वह मानो मदन की ही मण्डली है। जो नगर वीथियों में बिहार कर रही है। नगर की नहीं, विपिन भी भ्रमरों की गूंज से आकर्षक दिखाई देता है। वह भी मदन मण्डली का ही एक अंग है। केकी एवं कपोल आदि का कोलाहल करना, कोकिल का कूंजना, मानो अश्लील गानों या गालियों का होली में गाया जाना है।

(आ) रूप-चित्रण

ऊपर जो पद उद्धृत किये गए हैं उनमें प्रकृति का आलम्बनगत-उद्दीपनगत चित्रण भी आ गया है। अब हम सूर के प्रकृति-चित्रण अथवा नख-शिख को लेते हैं।

कवि ने अपने काव्य के चरित्र नायक श्रीकृष्ण का नखशिख कई पदों में चित्रित किया है, यथा:—

नटवर वेश काछे श्याम।
पद कमल नख इन्दु शोभा ध्यान पूरन काम॥
जानु जंघ सुघटनि करभा नाहिं रम्भा तूल।
पीत पट काछनी मानहुं जलज केसर झूल॥
कनक छुद्रावली पंगति नाभि कटि के भीर।

मनहुं हंस रसाल पंगति रहे हैं ह्रद तीर ॥
झलक रोमावली सोभा ग्रीव मोतिन हार।
मनहुं गंगा बीच जमुना चली मिलि मैंधार ।
बाहु दण्ड विसाल तट दोउ अंग चन्दन रेनु।
तीर तरु बन माल की छवि व्रज जुवति सुक्ख दैन ॥
चिबुक पर अधरनि दसन दुति बिम्ब बीज लजाय ।
नासिका सुख नैंन खंजन करत कवि सरमाय ।
स्रवन कुण्डल कोटि रवि छवि भृकुटि काम को दण्ड ।
सूर प्रभु हैं नीप के तर सीस धरे सिखण्ड ॥२३७३॥

इस अलंकृत वर्णन को पढ़कर पाठक अनुभव करने लगेंगे कि श्री कृष्ण के पदनखों से लेकर कवि क्रमशः ऊपर के अंगों का चित्रण करता हुआ सिर की शिखा तक पहुंचा है। देव-वर्णन में आचार्यों ने इसी क्रम को मान्यता दी है, अतः नख-शिख जो अर्थ नख से शिखर तक लिया जाता है वही यहाँ पर सुसंगत रूप में उपस्थित है। देव या ईश्वर का ध्यान उसके चरणों में नतमस्तक होकर ही किया जाता है अतः भक्त और भगवान का सम्बन्ध नहीं होता; मानव-मानव का सम्बन्ध होता है जो बहुत कुछ समता पर आधारित है। जब दो मनुष्य मिलते हैं तो मुख की ओर ही देखते हैं और इसलिए वर्णन नख से शिखा से प्रारम्भ होना चाहिए।

पद संख्या २४०९ में भी जिसकी टेक है—थकित भई राधा व्रजनारि। नख-शिख का वर्णन क्रमशः नीचे से लेकर ऊपर के अंगों तक किया गया है। ऐसा ही वर्णन—ऐसे सुने नन्दकुमार (पद २४५३) में भी पाया जाता है।

सख्यभाव की भक्ति में समानता का स्तर रहता है अतः वहां भगवान का भी शिखा से पद-नख तक वर्णन किया जा सकता है। पदसंख्या २३९३ में सूर ने ऐसा ही वर्णन किया है। पद की टेक है:—

हम देखे इहि भांति कन्हाई।

सम्पूर्ण पद में भी शीर्ष शिखण्ड से लेकर अलक श्रवण कुन्डल, कुटिल भ्रकुटि, अनुपम नेत्र सुभग नसिका दाड़िम के कण जैसी द्युतिमती दसनावलि, ग्रीवा में विभाजित मुक्तामाल और बनमाला, गुजशुण्ड के समान बाहु दन्ड, बकपंक्ति जैसी रोमावली, हृदरूपी नाभि, कटि में पीताम्बर तथा स्वर्ण-मेखला सुन्दर जन्घा तथा दोनों घुटने, कमल जैसे चरन और नख जिनकी समता चँद्र

भी नहीं कर सकता, ऊपर से नीचे तक क्रमशः वर्णित हुए हैं। पदसंख्या २४-४३ तथा २४५२ में भी ऊपर से लेकर नीचे तक के अंगों का वर्णन है। सख्य भाव के धनी सूर ने कृष्ण के मुखमण्डल का वर्णन अनेक पदों में किया है। यथा:–

(१) मोहन बदन विलोकत अंखियन उपजत है अनुराग।२३९५।
(२) देखि सखी हरि को मुख चारु।२४१४।
(३) हरि मुख निखरत नैन भुलाने।२४१६।
(४) गोपीजन हरि बदन निहारत।२४२७।
(५) देखि सखी यह सुन्दरताई।
चपल नैन विच चारु नासिका एक टक दृष्टि रही तँह लाई।२४२८।
(६) हरि मुख किधौ मोहनी माई।२४३५।
(७) देखि री देखि सोभा रासि।२४३७।
(८) बैठी कहा मदनमोहन को सुन्दर बदन विलोकि।२४३८।
(९) सजनी निरखि हरि को रूप।२४४०।
(१०) नयनन ध्यान नंदकुमार।२४४१।
(११) मुख पर चन्द डारौं वारि।२४५५

कहीं-कहीं मुख से नीचे कटि तक का भी वर्णन किया गया है। सूर ने भगवान के नेत्रों पर अधिक लिखा है। और उन्हें कई रूपों में चित्रित किया है। पदनख कर्ण कुण्डल मुकुट अधरों की लालिमा वक्षस्थल, भुजायें पीतांबर अलक आदि अंगों पर भी सूर ने अद्भुत कल्पनायें की हैं और उनका मनोमुग्ध कारी वर्णन किया है। निम्नाँकित पद में राधा का एक चित्र देखिये:–

प्यारी अंग सिंगार कियो।
वेनी रची सुभग कर अपने टीका भाल दियो॥
मोतिन माँग संवारि प्रथम ही केसरि आड़ संवारि।
लोचन आजि सवन ताखिन छवि को कवि कहै निवारि॥
नासा छवि अति ही छविराजति अधरन हीरा रंग। २६४५।
नवसत साजि चीर चोली वनि सूर मिलनि हरि संग॥

इस पद में राधा के रूप का नहीं उसकी शृंगार-सज्जा का वर्णन है। निम्नांकित पद में रूपकातिशयोक्ति साध्यवसाना लक्षणा द्वारा राधा का नख शिख वर्णन किया गया है।

अद्भुत एक अनूपम बाग।

जुगुल कमल पर गजवर क्रीड़त तापर सिंह करत अनुराग ।:
हरि पर सरवर सरपर गिरिवर गिरि पर फूले कंज पराग ।
रुचिर कपोत वसत ता ऊपर ता ऊपर अमृत फल लाग ।।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव तापर सुक पिक मृगमद काग ।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग ।। २७२८ ।।

इस पद में दो कमल दो पैरों के लिए, गिरिवर उरोज के लिए, कंज-पराग उन पर चर्चित चन्दन के लिए, कपोत ग्रीवा के लिए, अमृत फल चिबुक के लिए, पुष्प नथ कर्णफूल या कपोल के लिए, पल्लव अधरों के लिए, सुक नासिका के लिए, पिक मधुर वाणी के लिये, मृगमद मिस्सी या चिबुक तिल के लिए, काग कान के लिए, खंजन नेत्र के लिए. धनुष भौहों के लिए, चन्द्रमा भाल के लिए, और मणिधर नागमणि ग्रंथित चोटी के लिये प्रयुक्त हुये हैं। कवि ने इस प्रकार राधा के शरीर को एक अनुपम आरण्य या वाटिका का रूप दिया है। अन्य सब बातें तो बाटिका पर घटित हो सकती हैं परन्तु धनुष और चन्द्रमा का घटित होना कठिन है। कल्पना की जा सकती है कि उस वाटिका में धनुषाकार कोई लता वितान हो और ऊपर चंद्रमा दिखाई दे रहा हो, अथवा चन्द्रमा के रूप में किसी वृक्ष के ऊपर कोई चमकता हुआ झाड़-फनूस टंगा हो। पद २७२९ और २७३० में दृष्टकूट शैली में राधा के शरीर का वर्णन किया गया है। पद २७३१ में राधा की छवि को दामिनी से उपमित किया गया है। पद २७३२ में उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा राधा के मुखमण्डल, वेणी, सिन्दूर, भृकुटि, केसर का तिलक, नेत्र- नासिका, अधर, कर्णफूल, नथ चिबुक, कण्ठश्री एवं वक्षस्थल का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार का वर्णन पद २७३६ और २८०२ में हैं। २८०२ में पूरा नख-शिख ऊपर से नीचे तक वर्णित हुआ है। पदसंख्या १०९४ और १०९६ में श्रीकृष्ण की आभामयी, छविमयी एवं मनमोहक मुद्रा पढ़ते ही बनती है। पदसंख्या ५०३ में सीता की लगाई पुष्प वाटिका का वर्णन है।

षष्ठम् अध्याय

गति-चित्रण

सूरसागर में गति चित्रों की ही भरमार है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं:—

(१) खेलत स्याम सखा लिये संग।
इक मारत इक रोकत गेदँहि इक भागत करि बाना रंग।

(२) महर महरि मन गई जनाइ।
खन भीतर खन आंगन ठाढ़े खन बाहर देखत है जाइ।
११६१

(३) झिड़कि कै नारि दै गारि गिरिधारि तव पूँछ पर लात है अहि जगायो।
उठ्यो अकुलाय डरपाइ खगराइ को देखि बालक गर्व अति बढ़ायो।
पूंछ लीनी झपटि धरनि सों गहि पटकि फुकरयो लटकि करि क्रोध फूले।
पूंछ राखी चाँपि रिसनि काली काँपि देखि सब सांपि अवसान भूले।
करत फन घात, विस जात उतरात अति नीर जरि जाति नहिगात परसै। ११७०

इन पदों में अनेक गतियों तथा क्रियाओं का वर्णन है। भागना, रोकना, मारना, भीतर जाना, आँगन में आकर खड़े होना, बाहर जाना आदि

गतियों का रूप चित्रात्मक है—काली नाग को नाथने का वर्णन तो अतीव चमत्कारक है और उसमें झिड़कना, लात मारना, जगाना, अकुलाकर उठना, डरना, गर्व करना, पूँछ पकड़ना, पटक देना, फुंकार भरना, क्रोध से फूलना, पूँछ की दाब रखना, काँपना, क्रोध में भरना, हक्का बक्का हो जाना, फण से घात करना, बिष का फैलाना आदि अनेक क्रियाओं का रूप वर्णित हुआ है। दावानल के प्रसंग में भी इसी प्रकार की क्रियायें वर्णित हुई हैं। सूर का मानस जड़वत नहीं चेतन है, क्रिया शील है और वह भी सामान्य रूप से नहीं असामान्य, प्रज्वलित चेतना स्फुल्लिगों के रूप में न जाने कितनी भावनायें प्रखर रूप में उनके अन्दर उद्‌बुद्ध एवं उद्वेलित होती रहती थीं। निम्नांकित पद में नन्द के द्वार पर एकत्रित जन समाज का एक चित्र है जिसमें समयानुकूल अनेक क्रियायें परिलक्षित हो रही हैं:—

आज नन्द के द्वारे भीर।
इक आवत इत जात विदा ह्वै इक ठाढ़े मंदिर के तीर।
कोउ केसरि को तिलक बनावति कोउ पहिरत कंचुकी सरीर॥
एकनि को गोदान समरपति एकनि को पहिरावति चीर।
एकनि कौं भूषन पाटाम्बर, एकनि कों जु देत नग हीरा।
एकनि कों पहुपनि की माला एकनि को चन्दन घसि नीर।
एकनि मानों दूब रोचना एकनि को वोधति दै कीर॥
६४३

निम्नांकित पद में रूपचित्र के साथ गतिचित्र भी देखने योग्य है:—

छोटी-छोटी गोड़ियां अँगुरियाँ छवीली छोटी,
नख ज्योति मोती मानो कमल दलनि पर।
ललित आंगन खेलै ढुमुकि-ढुमुकि डोलै,
झुनुक-झुनुक बोलैं पैंजनी मुदु मुखर।
किंकिनी कलित कटि हाटक रतन जटि,
मृदु कर कमलनि पहुँची रुचिर वर।
पियरी पिछौरी मानौ और उपमान भीनी,
बालक दामिनि मानौ ओढ़े वारौं वाटि घर।
उर बघनखा कण्ठ कठुला झंड्ले बार,
बेनी लटकन मसि वुन्दा मुनि मन हर।
अंजन रंजित नैन चितवन चित चोरे,
मुख सोभा पर वारौं अमित असम सर।

चुटकी बजावति नचावति जसोदा रानी,
बाल केलि गावत मल्हावति सुप्रेम भर।
किलकि-किलकि हसै द्वै-द्वै दँतुरिया लसैं,
सूरदास मन बसै तीतरै वचन वर।

रूपचित्र के अन्तर्गत छोटे-छोटे पैर, छबीली छोटी-छोटी अंगुलियाँ, स्वर्ण रत्न-जटित कटि किंकिणी, झीना पीताम्बर, वक्षस्थल पर व्याघ्र नख, कण्ठ में कठुला, गर्भ के घुंघराले बाल, काजर का डिठौना, अंजन रंजित नेत्र परिगणित होंगे।

गति-चित्र में आँगन में खेलना, ठुमक-ठुमक कर घूमना, पैंजनी का झुनुक-झुनुक करते मुखरित होना, यशोदा का चुटकी बजा कर नचाना, प्रेम-पूर्वक मल्हाना और बाल-क्रीड़ाओं के लिये गाना, कृष्ण का किलक-किलक कर हँसना और तोतले बचन बोलना, हँसते हुए दूध के दो-दो दाँतों का चमकना रूप में गति और गति में रूप का समिश्रण है।

श्रीकृष्ण का ऐसा ही एक चित्र और देखिये :—

लटकत मुकुट मटक भौहनि की, चटकट चलत मंद मुसुकात।
पग द्वै जात बहुरि फिरि हेरत, नैन सैन दै कैं नंद-तात॥
निरखत नारि निकट बिथकित भईं दुख-सुख व्याकुल झुरत सिहात।
सूर स्याम अंग-अंग माधुरी चमकि-चमकि चकचौंधिति गात॥
२८३६॥

श्याम व्रज की किसी बीथी से चले जा रहे हैं। उनका मुकुट लटक रहा है। भ्रू गति मन के चांचल्य के साथ मटकने की चंचल मुड़ा उपस्थित कर रही है। मुख से मन्द-मन्द मुसकान सुमन के समान झड़ रही है। कृष्ण चटकते हुए, सब के समक्ष अपनी छबीली छटा छिटकाते हुए चले जा रहे हैं। दो पैर आगे बढ़ाते हैं और फिर लौट कर देखने लगते हैं। उनके इस नेत्र सँकेत का अनुभव करके नारियों के समुदाय विथकित हो जाते हैं। नारियां प्रसन्न भी होती हैं। पर कृष्ण को ठहरा नहीं पाती। कृष्ण आगे निकल गये—उनकी आँखों से ओझल हो गये—तो वे दुःखी भी होती हैं। स्याम के अंग अंग का माधुर्य चमक-चमक कर चकचौंध पैदा कर रहा है।

उपर्युक्त पद में रूप-चित्र, गति-चित्र तथा भाव-चित्र तीनों ही चित्रित हो रहे हैं।

चित्रमयता कविता में प्रभाविष्णुता उत्पन्न करने के लिये एक आवश्यक एवं प्रधान उपादान है। सामान्य उक्ति में दृश्य या क्रिया का वह प्रभाव नहीं पड़ता जो उसके चित्र रूप में उपस्थित कर देने से पड़ता है। कृष्ण आ रहे हैं या जा रहे हैं। इस कथन में कोई विशिष्टता नहीं है। पर जब हम यह कहेंगे कि श्रीकृष्ण नटवर वेष में शिर पर मोर पंखों का मुकुट धारण किये हुए कानों में मकराकृति कुण्डल पहने हुए घुंघराले बालों के साथ पीताम्बर की आभा छिटकाते हुए चले जा रहे हैं तो उनका एक विशिष्ट व्यक्तित्व मानस पटल पर अंकित हो जाता है। जो दृश्य-चित्र का प्रभाव है, वही गति-चित्र का। इन दोनों के साथ कोई न कोई भाव भी लगा ही रहता है। बाहर की आकृति या गति आभ्यन्तर मनोगति का ही तो रूपान्तर है। केवल वाह्य संभार की प्रधानता के कारण उन्हें आन्तरिक प्रेरणा से पृथक करके है ही। भाव चित्र में जो मानसिकता एवं सूक्ष्मता रहती है वह वस्तु-चित्र एवं गति-चित्र में आ ही नहीं सकती। अब हम सूर के भाव-चित्रों का विश्लेषण करेंगे।

सप्तम् अध्याय

भाव-चित्रण

महात्मा सूरदास आर्त भक्त के रूप में अवतीर्ण हुये थे, और सखा भाव के रूप में उन्होंने लीला धाम में प्रवेश किया। इन दोनों के बीच में लीला सम्बन्धी जितनी भाव राशि आ सकती है, उस सब का अनुभव और चित्रण उन्होंने सूरसागर में किया। भक्ति भावना जिस प्रकार सभी भावों के ऊर्ध्वतम स्तर का नाम है उसी प्रकार उसे सब भावों का मूल भी माना जा सकता है। शान्तरस और भक्तिभावना दोनों अन्योन्याश्रित हैं। रस गंगाधर के प्रणेता पण्डितराज जगन्नाथ ने शान्त रस में भक्ति का अर्न्तभाव स्वीकार नहीं किया है। शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद है और भक्ति भावना परमेश्वर में परानुरक्ति का नाम है। निर्वेद और अनुराग एक दूसरे के विरोधी हैं। भक्ति में रति है तथा निर्वेद में विरति, अतः दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं, परन्तु पण्डित राज दोनों में जिस वैपरीत्य का अनुभव करते हैं, वह वस्तुतः है नहीं। निर्वेद या तटस्थ भाव सासांरिकता के प्रति होता है। भक्ति में भी वह विद्यमान रहता ही है। भक्त सन्त की ही भाँति माया के मेरे तेरे पन से पृथक रहता है। संसार के प्रति उसकी कोई आसक्ति नहीं होती, परन्तु मन को केन्द्रित करने के लिये जैसे सन्त प्रभु की ओर उन्मुख होता है, वैसे ही भक्त भी।

भक्ति रस है अथवा भाव, इस विषय में विवाद चलता रहा है। रति अथवा अनुरक्ति एक भाव है, इस पर आधारित भक्ति रस है। परम प्रभु रस रूप ही है। रस का अर्थ यहाँ आनन्द है। इसी की ओर सबकी गति है। यह केन्द्र है। वृत में परिधि के समस्त भाव भी सीधे केन्द्ररूप रस या आनन्द के

साथ सम्बद्ध हैं। काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द कहा गया है। जब तक कवि के काव्य में भक्ति-रस-निष्पन्दिनी भाव-धारा बहती रहती है और पाठक उसमें तल्लीन हो कर आनन्दोपलब्धि किया करते हैं, तब तक वह भक्ति रस ब्रह्मानन्द का सहोदर ही माना जायगा। तो क्या ब्रह्मानन्द काव्य के भक्ति रस से भिन्न है? हाँ, यह उससे भिन्न है। ब्रह्मानन्द अनिवर्चनीय है। उसे वर्णन-शक्ति द्वारा बाँधा नहीं जा सकता। काव्य-गत रस शब्दों और अर्थों से छनकर सूक्ष्म अनुभूति मात्र है; आनन्ददायक है, इसीलिये उसे ब्रह्मानन्द के समकक्ष रक्खा जाता है।

भक्ति रस पर लिखने वालों ने भागवत गुण-गान को आनन्दप्रदायक माना है। भक्त ध्रुव जी भागवत में कहते हैं :—

या निर्वृति स्तनुभृतां तव पादपद्म,
ध्यानाद भवज्जन कथा श्रवणेन वास्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमा यामप्यभून्मा,
किं त्वन्तकासि लुलितात्पततां विमानात॥ ४-९-१०

हे नाथ! जो आनन्द आपके चरण कमलों का ध्यान करने से अथवा आपके भक्तों के पवित्र चरित्र सुनने से प्राप्त होता है, वह ब्रह्मानन्द से भी कहीं बढ़ कर है। यह सुख काल चक्र की चपेट में आये हुये पुरुषों को कैसे प्राप्त हो सकता है?

रूप गोस्वामी हरि भक्त रसामृत सिन्धु में लिखते हैं :—

ब्रह्मावन्दो भवेदेव चेत् परार्धगुणी कृतः।
नैति भक्ति सुखाम्बोधे परमाण तुलामपि॥ १-१९

जो ब्रह्मानन्द परार्द्ध काल तक मोक्ष में उपलब्ध होता है वह भक्ति जनित आनन्द के लघुत्तम अंश के तुल्य भी नहीं हो सकता है।

भक्ति रस में स्थायी भाव भगवान के प्रति अनुराग है। उसके आलम्बन दिव्यता के निधान एवं सौन्दर्य के सागर परम प्रभु हैं। अनुभावों में प्रेम की अनन्यता से उत्पन्न अश्रु, रोमाञ्च आदि आवेंगे और हर्ष, उत्सुकता, आवेग, दैन्य, धृति, स्मृति आदि की गणना संचारी भावों में होगी। रूप गोस्वामी ने भक्तिरस को माधुर्य अथवा उज्ज्वल रस भी कहा है। श्री कृष्ण और श्री राम दोनों का ही अंग श्यामल वर्ण का मानते हुये भी उसे शुचि मेध्य तथा उज्ज्वल

विशेषण दिये हैं। कृष्ण भी इसी आधार पर श्यामल रंग के होते हुये भी उज्ज्वल वेशधारी स्वीकार किये गये हैं। महादेव सत्व की स्थिति में विराजमान होने से उज्ज्वल अथवा गौर वर्ण वाले वर्णित हुये हैं। विष्णु भी सत्व के प्रतीक हैं। अतः वे भी उज्ज्वल वेशधारी हैं। मध्यकालीन भक्ति काव्य में राम और कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार माने गये हैं। वैष्णव भक्ति में उज्ज्वल रस तक पहुँचने के लिये पूर्व के कतिपय सोपानों का काम लिया गया है जिनमें प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय और राग के पश्चात् अनुराग का सोपान आता है और वहाँ उज्ज्वल रस में परिणत होता है। आचार्य वल्लभ ने भागवत की अपनी सुबोधिनी टीका में भरत मुनि के आठ रसों को नाट्य रस कहा, परन्तु नवम शान्त रस को अनभिनेय घोषित किया है। भक्ति रस को वे अभिनेय मानते हैं। परन्तु शान्त रस का अभिनय चेष्टा एवं हाव भावदि के रूप में नहीं हो सकता। उन्हीं के शब्दों में भक्ति रसोपिरस वृष्टि वत् निपुर्णोरभिनेयः— रस वृष्टि के समान भक्तिरस निपुण व्यक्तियों के द्वारा अभिनेय है।

महात्मा सूरदास जन्म से ही भक्त थे। उनके प्राक्तन जन्म के संस्कार ही ऐसे थे कि वे साधना के सोपानों पर आरोहण करते हुए उसके अन्तिम बिन्दु तक पहुंच गये थे। उनका हृदय भगवद दर्शन के लिए, प्रभु के साथ एक हो जाने के लिए छटपटा रहा था। यह भगवत-कृपा ही थी कि वल्लभ जैसे सिद्ध योगी सूर की कुटी पर स्वयं पहुच गये और हाथ पकड़कर प्रभु के समक्ष खड़ा कर दिया। गुरु परसाद होत यह दरसन'—यह सूर की स्वीकारोक्ति है। उन्हें लीला-धाम का साक्षात हुआ और उनकी दीन दशा विनष्ट हो गई।

दर्शन से पूर्व जो व्याकुलता थी उसके लिए चित्र सूरसागर में विद्यमान हैं और अतीव मर्मस्पर्शी हैं। सूर लिखते हैं:—

(१) जन की और कौन पति राखै। १५।

(२) जब-जब दीनन कठिन परी।
जानत हौं करुनामय जनको तब तब सुगम करी॥

× × ×

महामोह में पर्‌यो सूर प्रभु काहे सुधि बिसरी॥१६

(३) ऐसेहिं जनम बहुत बौरायो।
विमुख भयो हरि चरन कमलतनि मन संतोष न आयो। २७

(४) विनती करत मरत लाज।

नखशिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज ॥९७

(५) हृदय की कबहूं नहिं जरनि घटी।
बिनु गोपाल विथा यह तन की कैसे जात कटी।९८।

(६) अबकै नाथ मोंहि उधारि।
मगन हौ भव अम्बुनिधि में कृपा सिन्धु मुरारि
नीर अति गम्भीर माया लोभ लहरि तरंग।
लिए जाति अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥
मनि इन्द्रिय तनहिं काटत मेटते अघ सिर भार।
पगन इत उत धरन पावत उरझ मोह सिवार॥
क्रोध दम्भ गुमान तृस्ना पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत सुत तिय नाम नौका ओर॥
थक्यो बीच बिहाल विह्वल सुनहु करुनामूल।
स्याम भुजा गहि काढ़ि लीजै सूर ब्रज के कूल ॥९९॥

(७) अपनी भक्ति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिने रुचि आन।१०६।

(८) कीजे प्रभु अपने विरद की लाज।
महा पतित कबहूं नहिं आयो नेकु तिहारे काज।१०८।

(९) प्रभु हौं बड़ी बेर को ठाढ़ो।
और पतित तुम जैसे तारे तिनहीं में लिखि काढ़ो।१३७।

(१०) मेरी तो गति पति तुम अनतंहि दुख पाऊं॥
हौं कहाइ तिहारो अब कौन को कहाऊँ।१६६।

(११) प्रभु मैं पीछो लिओ सिहारो।
तुम तो दीनदयाल कहावत सकल आपदा टारो।

× × ×

सूर कूर को ये ही बिनती लै चरननि में डारो। २१८।

सूर ने अनेक पदों में अपने को पतितों का शिरोमणि कहा है। यह पतन तभी तक है जब तक भक्त प्रपंच के चंगुल में पड़ा है और प्रभु के पास नहीं पहुंचा है। सूर की आत्मा प्रपंच से व्याकुल थी और प्रभु-भक्ति की आकाँक्षिणी थी। सूर साधना द्वारा भक्ति भवानी के द्वार तक पहुंच गये थे। यही नहीं, वे भगवद् भक्ति में तन्मय होकर प्रभु के अतिरिक्त अन्य सभी को अभिलाषाओं से पराङ मुख हो चुके थे। उनका हृदय प्रभु का नाम लेते ही द्रवित हो उठता था। चित्र द्रुति में हृदय फैलता है और सबके साथ समरसता का

अनुभव करता है। भक्त तो स्वभावतः समदर्शी होता है। उसका परिवार विशाल है। भक्ति को इसीलिए आचार्यों ने महारस कहा है। सूर ने भगवान कृष्ण के रूप को महारस की सँज्ञा दी है। यह रूप ही कहीं सरोवर, कहीं सिन्धु, कहीं बन आदि रूपों में वर्णित हुआ है। यथा:—

चलि सखि तिहि सरोवर जाहि।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि बिना विकसाहिं॥
अतिहि मगन महा मधुर रसै
रस न मध्य समाहि ॥३३८॥
सुवा चलि तावन को रस पीजै ॥३४०॥
सोभा सिन्धु न अंत रही री।६४७।

कुछ वर्णन नीचे दिये जाते हैं:—

(१) तरुनी स्याम रस मतवारि।

× × ×

महारास अंग-अंग पूरन कहाँ घर कहं बाट। २२४२।

× × ×

(२) हरि रस रूप बहै मद आवत डर डारयो जु महावत।
गेह नेह बन्धन पग तीरयो प्रेम सरोवर धावत।२२४७।

(३) तन लीन्हें डोलति फिरै रसना अटक्यो।
गोरस न मन आवई कोइ लैहै हरि-रस ॥ २२५३॥

(४) दधि बेचति व्रज-गलिन फिरै।

× × ×

सूर स्याम को रूप महा रस जाके बल काहू न डरै।२२५४।

(५) गोरस को निज नाम भुलायो।

× × ×

सुनहु सूर तरुनी जोवन मद तापर स्याम महारस पायो।२२५५।

सूर अपने जीवन के अन्तिम समय में इस महारस के पान से छक चुके थे। 'सूरसौरभ' में हमने उनकी इस परिपक्वावस्था का वर्णन किया है। सूरसागर की गोपिकायें श्रुतियाँ हैं। सूर ने इनकी संख्या सोलह सहस्त्र लिखी हैं। इधर हमने वेद मन्त्रों के जो तुलनात्मक अध्ययन किया है। उसके अनुसार

ऋचाओं की संख्या आवृत्तियों को तोड़कर सोलह सहस्त्र ही रहती है। सूर लिखते हैं:—

सोलह सहस पीर तन ऐकै।
तथा गई सोलह सहस हरि पै छांड़ि सुत-पति नेह।१०५।

श्रुतियां अथवा गोपिकायें सोलह सहस्त्र हैं। पर उनकी शरीर में पीड़ा एक ही है। सम्वेदन या भावना प्रभु गुणगान से भी सम्बन्धित है। वैदिक ऋचायें नाना नामों द्वारा 'उसी' 'एक' का गुण-कीर्तन कर रही हैं। सब उसी के रंग में रंगी हुई हैं। सूर भी कहते हैं:—

स्याम रंग राँची व्रज नारी।
और रंग सब दीन्हें डारी॥
कुसुम रंग गुरुजन पितु माता।
हरि तरंग भगिनी अरु भ्राता॥
दिना चारि में सब मिटि जैहैं।
स्याम रंग अजराइल रैहें॥

× × ×

सूर स्याम रंग घोष कुमारी ॥२५३१॥

उज्ज्वल रंग यदि प्राप्त हो गया और अन्दर समा गया तो वह पराद्धं काल प्राप्तव्य नहीं रहता। सूरसागर इस रस की प्राप्ति के लिए मध्य में पड़ने वाले अनेक अमूल्य चित्र ओतप्रोत हैं जिनका किंचित दिग्दर्शन आगामी पंक्तियों में हो सकेगा।

सूरसागर जैसा अन्यत्र संकेत कर चुके हैं, भाव प्रधान काव्य है। उसमें एक कथा सूत्र भी है पर वह विरल है और कथागत घटनाचक्र में सूर की वृत्ति रमी भी नहीं है। इन घटनाओं से जो भावात्मक भवन खड़ा होता है, हृदय में एक पर एक भाव उमड़ते हैं वही सूरसागर में सर्वस्व है। घटना से प्रेरित भावों की राशि की राशि उसमें सन्निहित है। भाव-साम्राज्य के एक छत्र सम्राट सूरदास ने इन भावों में अपनी अन्तर्दृष्टि द्वारा गहरा प्रवेश किया है। उनका यह साम्राज्य विस्तृत भी है और गम्भीर भी। वे अपने इस क्षेत्र में आगे भी बहुत दूर तक बढ़े हैं। और गहराई में भी उतरे हैं। जहाँ

तक भाव जगत का सम्बन्ध है सूर की समता करने वाला कवि विश्व में कठिनाई से मिलेगा। वे भाव जगत के कवि सम्राट हैं।

यह प्रकरण भक्ति भाव से प्रारम्भ हुआ है। पुष्टिमार्गिय भक्ति हरि लीला पर आश्रित है। इस लीला में हरि और उनके संदेश तथा विदंश सभी भाग ले रहे हैं। हरिवाल रूप में अवतरित होकर लीला कर रहे हैं। पैर का अगूंठा मुख में है। कवि इस प्रसंग में कल्पना द्वारा कैसे अनूठे भाव की ओर अपने पाठकों को ले जा रहा है। वह कहता है:—

> जो चरनारविन्द श्रीभूषण उर तें नैं कुन टारति।
> देखों धौं का रसु चरननु में मुख मेलत करि आरति।
> जो चरनारविन्द के रस कौं सुर नर करत विवाद।
> यह रस है मोकों अति दुर्लभ ताते लेत सवाद।

जो चरण श्री के शाश्वत अलंकार हैं, जिनकी प्राप्ति के लिए देव और मानव कितनी उत्कट साधना करते हैं, उनमें कोई रस है। इस रस में कैसा स्वाद है, इसे अवगत करने के लिए श्रीकृष्ण ने पैर का अगूंठा रस में रक्खा है। और उसे चूस रहे हैं। यह चूसना स्वाद लेना अपने से ही खेलना है। लीला में हरि अपने आप ही से तो क्रीड़ा करते हैं। गोपियाँ उन्हीं का तो रूप हैं। आस्वादन के इस सरस रूप से गोपियाँ परिचित हों और भगवान अपरिचित रहें, यह कैसे सम्भव है ?

सूर की प्रतिभा इस पद में अपने भगवान के सामने चरणारविन्द के मकरन्द को रस-पान हेतु प्रस्तुत कर रही है। भावरूप के सामने भाव का भोजन रख रही हैं। लीलामय भगवान भी सूर के इस परिवेषण रूपी क्रीड़ा आयोजन को अनुभव करके अपनी सृष्टि के प्रति कैसे आह्लादित हुए होंगे—इसे सहृदय पाठक का विस्मित एवं प्रफुल्लित हृदय ही बता सकेगा।

निर्गुण का सगुण होना भी भाव पर ही आश्रित है। भाव का आधार लेकर ही भक्त भगवान के साथ एक होता है, सूर ने भाव भक्ति की सराहना ही नहीं की है, उसे साधनों में मूर्धन्य स्थान दिया है। वे लिखते हैं:—

> रास रस लीला गाइ सुनाऊं।
> यह जस कहै, सुनै मुख स्रवननि तिन्ह चरनन सिर नाऊं॥

× × ×

धनि वक्ता तेई धनि स्रोता, स्याम निकट हैं ताके।
सूर धन्य तिहि के पितु माता, भाव भगति हैं जाके ॥

रास रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहां वह मन लहौं।
कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै।
जो कहौं कौन मानै जो निगम अगम,
कृपा बिनु नहीं या रसहिं पावै।
भाव सौं भजै बिनु भाव में ये नहीं,
भाव ही माहिं ध्यानहिं बसावै ।।१६२४।।

भक्त हेतु अवतार धरौ।
कर्म धर्म के बस मैं नाहीं, जोग जज्ञ मन में न करौ ॥
दीन गुहारि सुनौ स्रवननि भरि,
गर्ववचन सुनि हृदय जरौं।
भाव अधीन रहौं सबही कैं और न काहू नेक डरौं।
सूर स्याम अब कही प्रगट ही, जहाँ भाव तहँ तैं न हरौं।२१४०।
मैं अविगत अज अकल हौं, यह मरम न पायौ,
भाव वस्य सब पै रहौ निगमनि यह गायौ।१७१९।

भाव दियौ आवेंगे स्याम

अंग-अंग आभूषण साजति राजति अपने धाम।२६४४।

भाव भक्ति के धनी वक्ता, स्रोता, पुत्र, माता, पिता सभी धन्य हैं। भगवान इन्हीं के निकट हैं। अन्य सबसे वे दूर है। कर्म-धर्म, योग-यज्ञ का महत्व है; पर वे प्रभु तक नहीं पहुंचा सकते। प्रभु तो भाव के अधीन हैं। जहाँ भाव है, वहाँ से प्रभु दूर नही होते, पर जहां भाव नहीं, वहां उनकी छाया भी नहीं पड़ती। जिसने भगवान को भाव से भजा, उसी को प्राप्त हुए। जिसके पास भाव नहीं है उसके पास भगवान भी नहीं है। ध्यान को भी भाव में बसा देना चाहिए, तभी उसकी सार्थकता सिद्ध होगी। पश्चात भाव ही अन्तिम सहायक के रूप में आता है।

भाव में विरोध एवं वैषम्य समाप्त हो जाता है। तभी तो सूर लिखते हैं:—

वेद उपनिषद जासु कौं निरगुनहिं बतावै।
सोई सगुन ह्वै नन्द की दाँवरी बधावै।४।
सिव सनकादि अन्त नहिं पावत, ध्यान अह-निसि जापहिं।

सूरदास प्रभु ब्रह्म सनातन, सो सोवत नंद धामहि ।११३३।
भक्त विरह कातर, करुनामय डोलत पाछैं लागे ।
सूरदास ऐसे स्वामी कौं देहि पीठि सो अभागे ।१०८।
हरि सौं ठाकुर और न जन कौं ।

× × ×

लग्यौ फिरत सुरभी ज्यो सुत सँग औचिट गुन गृह बन कौं ॥
९

सूर ने भाव की विविधता भी स्वीकार की है। भक्त जिस भाव से भगवान को भजता है, उसी भाव से वे उसे प्राप्त होते हैं। सूर लिखते हैं :—

भजै जिहि भाव सौं, मिलै हरि ताहि त्यों भेद भेदा नहीं पुरुष नारी ।
सूर प्रभु स्याम, व्रज वाम, आतुर काम, मिलीं वनधाम गिरिराज धारी ॥ १६२७

झूठी बात कहा मैं जानौं ॥
जो मोकों जैसेहि भजेरी, ताकौं तैसेहि मानौं ॥ २१८१

पुरुष हो चाहे स्त्री, जो जिस भाव से प्रभु की भक्ति करता है, उसे उसी रूप में प्रभु प्राप्त होते हैं। गीता भी इस मत का समर्थन करती है :—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते ताँस्तथैव भजाग्यहं ।
मम वर्त्म अनुवर्तन्ते मनुष्या: पार्थ सर्वशः ॥ ४–११

प्राप्तव्य तो प्रभु ही हैं, पर मनुष्य अपनी भावना के अनुकूल उन्हें प्राप्त करने के लिये अनेक मार्गों से जाते हैं। कोई उन्हें सेवक के दैन्य भाव से भजता है, कोई उन्हें माता-पिता समझ कर भक्ति करता है, कोई वात्सल्य भाव मान कर चलता है और कोई सखा भाव को अपनाता है। पर ऐसा करने में भक्त उसी की वर्त्म का अनुवर्तन करते हैं; उसी एक केन्द्र का अनुसरण करते हैं। वेद भी कहता है :—

समेत निश्वे वचसा पतिदिव: एको विभूरतिथि जर्नानाय ॥
सा पूर्व्यो नूतन साविवासत तं पर्तनि: अनुवावृत एकमित्पु रु ॥
अथर्व ७–२१–१

प्रभु सर्व व्यापक हैं, पर सभी जनों के अतिथिरूप में विद्यमान हैं।

अतिथि की कोई तिथि नहीं होती। जिस क्षण हमारी भावना प्रभु के प्रति तीव्र रूप में जायगी, उसी क्षण वे उपस्थित हो जावेंगे। वे पूर्व हैं, पहले से ही उपस्थित हैं, पर साक्षात करने वाले तो हम हैं। हम ही उन का साक्षात करने की अवस्था में न हुए तो वे प्रत्यक्ष होंगे कैसे ? हम नवीन चोला धारण करते हैं। कभी इस योनि में तो कभी उस योनि में। कभी एक भाव में तो कभी दूसरे भाव में। हमारी स्थिति परिवर्तित होती रहती है। प्रभु तो सदैव एक रस रहते हैं। जब हम उनकी ओर प्रयाण करते हैं, तब अपनी स्थिति के ही अनुसार। अतः प्रभु के एक होते हुए भी उसकी ओर जाने वाली वर्तनि बाह या राह अनेकारूपा (पुरु) हो जाती है। धन्य है वे जो एक होकर उस द्यौ के पति का बचनों द्वारा गुणगान करते हैं; समवेत होकर कीर्तन करते हैं और अपने भेदों को भुला देते हैं।

(अ) दैन्य भाव

वार्ता साहित्य से ज्ञात होता है कि सूर आचार्य वल्लभ के पूर्व दास्य भाव की भक्ति के पद रच कर गाया करते थे। आचार्य वल्लभ के सामने जब उन्होंने अपने यह पद सुनाये तो आचार्य जी ने कहा—"सूर ह्वै के ऐसो घिघियात काहे कौ है।"

इस से यह मन्तव्य गृहीत किया जा सकता है कि भक्त को प्रभु के सामने अपना दैन्य प्रदर्शित नहीं करना चाहिये। भक्ति की यह बहुत उच्च अवस्था है, परन्तु प्रारम्भ में तो भगवान का महात्म्य और अपना दैन्य भाव रहता ही है। महाप्रभु वल्लभाचार्य ने तत्वदीप निबन्ध में भक्ति की परिभाषा देते हुए स्वयं लिखा है :—

> माहात्म्य ज्ञान पूर्वस्तु सुदृढ़ सर्वतोधिकः।
> स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तया मुक्तिः नचान्यथा॥ ४६

जहाँ प्रभु का महात्म्य ज्ञान होगा वहाँ अपना दैन्य भी दिखाई दे जायगा। गोस्वामी तुलसीदास ने तो सेवक सेव्य भाव को भव सागर से पार होने के लिये अनिवार्य साधन माना है। पुष्टि भक्ति में भगवान का महात्म्य तो स्वीकृत है, पर भक्त का दैन्य भाव गृहीत नहीं हुआ है। सूर की रचना में दैन्य भाव के पद हमें प्रभूत मात्रा में मिलते हैं। यथा :—

> (१) अब कैं नाथ मोंहि उधारि।
> मगन हौं अब अम्बु निधि में कृपासिन्धु मुरारि। ९९१

(२)　कौन गति करिहौं मेरी नाथ ।
हौं तो कुटिल कुचालि कुदसन रहत विसय के साथ ॥　१२५

(३)　प्रभु हौं सब पतितन को टीको ।
और पतित सब दिवस चारि के हौं तो जनमत ही को ॥

× 　　× 　　×

मरियत लाज सूर पति तन में मोहूँ ते कोउ न नीको ॥ १३८

(४)　माधव जू मोते और न पापी ।
घातक कुटिल चवाई कपटी महाक्रूर सन्तापी ॥　　१४०

(५)　मों सम कौन कुटिल खल कामी ।
तुम सो कहा छिपी करुनामय सब के अन्तरजामी ॥
जो तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो नोन हरामी ॥
भरि–भरि द्रोह विषय को धावत जैसे सूकरगामी ॥
सुनि सत्संग होत जिय आलम विसयन संग विसरानी ॥
श्री हरि चरन छाँड़ि विमुखन की निसदिन करत गुलामी ॥
पापी परम अधम अपराधी सब पतितन में नामी ॥
सूरदास प्रभु अधम उधारन सुनिये श्रीपति स्वामी ॥ १४८

इसी प्रकार के अन्य कई पद हैं जिनसे सूर की दीनता प्रकट हो रही है। इन पदों में भगवान प्रभु हैं, स्वामी है, सेवक सूरदास उनसे कृपा की याचना कर रहा है। इस भाव में भी अनन्यता है। सूर का हृदय अनुभव करता है कि उसे प्रभु के बिना अन्यत्र कहीं भी सुख नहीं मिल सकता। जैसे समुद्र में तैरते हुए जलपान के ऊपर कोई पक्षी बैठा हो और वह सामुद्रिक वायुमण्डल में इधर-उधर घूमकर फिर भी जलयान पर ही आकर बैठ जाता है, वैसे ही सूर का मन प्रपंच में घूम आता है, पर कहीं भी आश्रय स्थल न पाकर पुनः अपने प्रभु के पास ही पहुँच जाता है। सूरदास प्रभु में अनन्य निष्ठा रखते हैं और कहते हैं—प्रभु चाहे मैं भला हूँ, या बुरा हूँ तो तुम्हारा ही। मेरी लाज और मेरी कीर्त्ति आप के ही हाथ में हैं। सब को छोड़ कर मैंने तुम्हारी शरण ग्रहण की है, तुम्हारे ही चरणों को दृढ़ता से पकड़ा है। मेरी गति और मेरी रक्षा तुम्हारे ही हाथ में है। अब मैं तुम्हारा हूँ और किसी का न बनूंगा। एक स्थान पर सूर यह भी कहते हैं कि सभी व्यक्ति मुझे श्याम का गुलाम (दास) कहते हैं। इस में मेरा हृदय शीतल होता है, मुझे शान्ति प्राप्त होती है। कितनी उच्च कोटिकी सूर की भक्ति भावना है।

(आ) पुत्रभाव

भक्त प्रभु को माँ और अपने को उसका पुत्र समझता है, यह भाव भी भक्ति-क्षेत्र में सुदूर वैदिक काल से चला आता है। सूर भी लिखते हैं :—

(१) अपने को कौन आदर देइ।
ज्यों बालक अपराध कोटि करै मातु न मानै लेइ ॥

× × ×

माता अछत छीर बिनु सुत मरे अजह कण्ठ कुच सेइ।
जयपि सूरज महापतित है, पतित पावन तुय तेइ ॥ २००

माधव जू जो जन तैं बिगरै।
तऊ कृपालु करुनामय केसव प्रभु नहिं जहि धरै।
जैसे जननि जठर अन्तरगत सुत अपराध करै।
तउ पुनि जतन करै अरु पोसै निकसै अंक भरै।११७।

प्रथम पद से दृष्टांत अलंकार द्वारा पुत्र को और भक्ति को पुत्र मानकर कहा गया है कि जैसे मां पुत्र के अपराधों को दृष्टि में न लाकर अपने दुग्ध से पालन-पोषण करता है, उसी प्रकार पतित पावन प्रभु अपने भक्त के पापों को ध्यान में न लाते हुए उसका पोषण करता है। अपने को सभी आदर देते हैं। भक्त भी प्रभु का हैं, अतः वह भी विश्व में आदर पाता है। दूसरे पद में गर्भगत पिण्ड चेतन होने से इधर-उधर गति करता है और माता को कष्ट पहुंचाता है फिर भी मां बड़ी सावधानी से उसका पालन-पोषण करती है और जब बच्चा गर्व से बाहर आता है तो उसे गोद में भर लेती है। प्रभु भी इसी प्रकार जीवों को अपने गर्व में धारण किए हुए है। ये जीव नाना प्रकार के उत्पात खड़े किया करते हैं, किन्तु इनमें से जो जीव प्रथक होकर प्रभु की शरण में पहुँच जाता है, वह प्रभु का अपना प्यारा भक्त बन जाता है, फिर उसे कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता; क्योंकि उसके योग क्षेम की चिंता स्वयं प्रभु करने लगते हैं। निम्नाँकित पंक्तियों में माता के साथ प्रभु को धाता और भ्राता भी कहा गया है:—

तुम माता तुमहीं जग धाता तुम भ्राता अपराध क्षमाई।
ऐसेहि मोहि करौ करनामय सूर स्याम ज्यों सुत हित मानइ ॥

(३) दाम्पत्य भाव

साधक पत्नी है और प्रभु-पति- है। इसी भाव के संकेत भी वैदिक वाङ्मय में मिल जाते हैं। यथा:—

अच्छा व इन्द्रं मतयः स्वर्युवः सध्रीचीर्विश्वा उशती रनूषत।
परिष्वजन्त जनयो यथापतिं मर्यं न शुन्धव्य मघवानमूतये॥

जैसे पति को प्यार करने वाली पत्नी अपने पति का आलिंगन करती हुई उसके साथ एक हो जाती है वैसे ही आनन्द कामना से संयुक्त मेरी स्तुतियां उसी परम प्रभु का स्पर्श कर रही हैं, उसके गुण गान में तल्लीन हो रही हैं।

हिन्वन्ति सूरमुस्त्रयः स्वसारोजामयं स्पतिम्।
महाभिन्दं महीयुवः॥ ऋ० ९-६५-१

जिस प्रकार पत्नियां अपने पति की ओर स्वेच्छा से मन करती हैं उसी प्रकार मही मान ब्रह्मत्व को आकांक्षिणी मेरी शक्तियां मेरी चैतन्य किरणें प्रेरक एवं आह्लादक प्रभु की ओर बढ़ रही हैं।

सन्त सम्प्रदाय में यह भावना अधिक प्रचलित रही है। कबीर की साखियों में इसी भावना को लेकर प्रेम की जिस पीड़ा का अभिव्यंजन हुआ है। वह अपनी अनुभूति में अद्वितीय है। सूर ने भी इस भावपद्धति का आश्रय लिया है यथा:—

गोविन्द सो पति पाय कहाँ मन अनत लगावै।
स्याम भजन बिनु सुख नहिं जो दस दिसिं धावै॥
पति को व्रत जो धरै तिय सो सोभा पावै।
आनु पुरुष को नाम लै पतिव्रतहिं लजावै।३५२।

दशम स्कन्ध में यह भाव गोपियों के रूप में प्रकट हुआ है। कुमारिकायें गौरीव्रत धारण करती हैं जिससे उन्हें श्रीकृष्ण पति रूप में प्राप्त हों। पौराणिक श्रुति के अनुसार ये गोपिकायें ऋचायें थीं। सूरसागर में कृष्ण को पति रूप में प्राप्त करने की कामना गोपियों के मुख से इस प्रकार अभिव्यक्त हुई है।

(१) अति तप करति घोषकुमारि।
कृष्ण पति हम तुरत पावें काम आतुर नारि।१३९९।

(२) गौरीपति पूजति ब्रजनारि।
नेम धर्म सो रहति क्रिया जुत बहुत करति मनुहारि।
यहै कहति पति देहु उमापति गिरधर नन्द कुमार ॥
१३८४॥

(३) ब्रज वनिता रबि को कर जोरै।
सीत भीत नहिं करति छहौ ऋतु त्रिविध काल जल फोरैं।

+ + +

हमको देहु कृष्ण पति ईश्वर और नहीं मन आनि।१४००।

गोपियों की यह अभिलाषा पूर्ण हुई। सूर लिखते हैं:—

पूरन ब्रह्म अकल अविनासी सबनि संग सुख कीन्हों।
जितनी नारि भेस भये तितने भेद न काहू चीन्हों॥

सूर ने दाम्पत्य भावना के संयोग पक्ष पर अनेक पद लिखे हैं। उन्होंने राधा और कृष्ण का गन्धर्व विवाह भी कराया है। संयोग श्रृंगार की कुछ क्रीड़ायें निम्नाँकित पदों में अनुभव कीजिए।

(१) नवल गुपाल नवेली राधा नये प्रेम रस पागे।
अन्तर बन विहार दोऊ क्रीड़त आपु-आपु अनुरागे॥
१३०४॥

(२) मरनौ माई घन-घन अति दामिनि।
घन दामिनि-दामिनि घन अन्तर सोभित हरि ब्रज भामिनि॥ १६६६॥

अनेक संकेत सूर ने अपने पदों में दिये हैं। लौकिक धरातल पर जिस श्रृंगार में अश्लीलता का समावेश हो जाता है, वह न होने पावे, इसकी ओर सूर ने अधिक ध्यान दिया। यथा:—

(१) गोपी ग्वाल कान्ह द्वै नाहीं एकहु नेकु न न्यारे।
जहाँ-तहाँ अवतार धरत हरि ये नहिं नेकु विसारे॥
२२२३॥

(२) सुनहु बात जुवती एक मेरी।
तुमते दूर नहिं कबहूँ, तुम राख्यो मोहिं ढेरी।
तुम कारन वैकुण्ठ तजत हौं, जन्म लेत ब्रज आय।
वृन्दावन राधा गोपी संग, यह नहिं विसरयो जाय॥
तुम अन्तर-अन्तर कह भाखति, एक प्रान द्वै देह।२२३२॥

पदसंख्या १७९३ में श्रुतियों ने गोपिका रूप में केलि करने का ब्रह्म से वरदान माँगा था जिसका उत्तर कृष्ण देते हैं:——

मथुरा मण्डल भरत खंड निजधाम हमारो।
धरौं तहां मैं गोप वंश सो पन्थ निहारो।।
तब तुम ह्वै कै गोपिका करि हौ मोसो नेह।
करौ केलि तुमसों सदा सत्य बचन मम ऐह।।

× × ×

वेद ऋचा ह्वै गोपिका हरि संग कियो विहार।

सूर ने इन गोपिकाओं की संख्या १६ सहस लिखी है।

—'सोलह सहस घोषि पमारि'

देखि सबकौं स्याम रीझे रहीं भुजा पसारि। १४१३।

शृंगार के विप्रलम्ब पक्ष पर भी सूर ने बड़े मर्मस्पर्शी पद लिखे हैं। पर वहां भी आध्यात्मिक संकेत विद्यमान है जो पद गत भावनाओं को लौकिक संस्पर्श से बचा रहे हैं। भ्रमरगीत में गोपियों के विरह भाव से प्रभावित होकर उद्धव कहने लगे थे :—-

अब अति चकित वन्त मन मेरो,
आयो हौं निर्गुन उपदेसन भयो सगुन को चेरो।४६५७।

उद्धव गोपियों को ज्ञान औरयोग सिखाने आये थे, परन्तु उनके सगुण भक्ति के सामने नत मस्तक हो गए। यह कथन भी सिद्ध कर रहा है कि गोपियां साधक भक्त के रूप में हैं, सामान्य स्त्रियां नहीं,

(ई) मातृ-पितृ-भाव

इसमें साधक माता और पिता के समान हैं, प्रभु उनके लड़ैते लाल के रूप में। पुष्टि-मार्ग में यह भाव विशेष भाव से अपनाया गया है। सूरदास लिखते हैं :—

आदि सनातन हरि अविनासी।
सदा निरन्तन घट-घट वासी।।
पूरन ब्रह्म पूरान बखानै।
चतुरानन सिव अन्त न जानै।।
गुन गन अगम निगम नहिं पावै।

ताहि जसोदा गोद खिलावै ॥
जप तप संयम ध्यान न आवै ।
सोई नन्द के आँगन धावै ।६२१।

(२) गोकुल प्रकट भये हरि राय ।
अमर उधारन असुर संहारन अंतरजामी त्रिभुवनराय ।
जागी महरि पुत्र मुख देख्यो पुलक अंग उर में न समाय ॥
६३१॥

(३) नन्दराय के नवनिधि आई ।
माथे मुकुट स्रवन मनि कुण्डल पति वसन भुज चारि सुहाई
॥६३७॥

सूर ने वात्सल्य भाव को रस कोटि तक पहुँचा दिया है। इस पर हम आगे लिखेंगे। पुष्टिमार्ग में भगवान की जिस बाल पूजा का प्रारंभ हुआ उसका एक सुदृढ़ आध्यात्मिक आधार भी है। 'सारस्वत' नामक निबन्धसंग्रह में आचार्य वल्लभ की बाल पूजा का आध्यात्मिक आधार शीर्षक निबन्ध में हमने इस तथ्य का विवेचन किया है।

(उ) सखा भाव

सखा भाव की भक्ति सर्वोच्च कोटि की मानी जाती है। जब तक आधीन भाव है तब तक वैधी अथवा मर्यादा भक्ति ही रहती है। पुष्टि भक्ति अधीनता से पृथक स्वाधीन भाव की भक्ति है।

स्पिनोजा के मतानुसार स्वाधीन भाव ही सर्वोच्च भाव है। आचार्य वल्लभ भी इसी भाव को सर्वोपरि मानते थे। इन्हीं के शब्दों में कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टि रुच्यते।' व्रज में स्याम अपने सखाओं के साथ खेल रहे हैं। सुबल हलधर श्रीदामा आदि सब के सब हाथ में हाथ मार कर दौड़ते हैं। श्रीकृष्ण ने कहा—'मेरी जोरी है श्री दामा हाथ मारे जात।' श्रीदामा ने कहा—'जाहु तारी मारि।' हाथ में हाथ मार कर दोनों भागे। हरि आगे थे श्री दामा पीछे, परन्तु श्री दामा ने उन्हें पकड़ लिया। खेल-खेल में ही आध्यात्म की कितनी गहरी बात सूर ने कह गये हैं। हरि तो सनातन से आगे हैं और सब के आगे हैं। उनसे बढ़ कर यहाँ पर कोई नहीं है, समान भी नहीं है, परन्तु जीवात्मा सलाह करके उत्क्रमण करता हुआ, प्रभु के पास पहुँच ही जाता है, उन्हें पकड़ ही लाता है।

ऋग्वेद ने जीवात्मा और परमात्मा दोनों को सयुज्या और सखा कहा है। जीवात्मा प्रकृति के सम्पर्क में पड़ कर इस सखा को भूल जाता है, परन्तु जब प्रकृति के थपेड़े लगते हैं, मृत्यु की मार पड़ती है, तब उसे अपना अयन और अपना सखा परम ब्रह्म याद आता है और तभी प्रकृति को छोड़ कर यह ब्रह्म पीछे पड़ता है, यह लगन ही उसे प्रभु के सखा भाव को पुनः प्राप्त करा देती है। निम्नोंकित पद में सूर ने सखा भाव की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति की है :—

> खेलत में को काको गुसइयाँ।
> हरि हारे जीते श्री दामा बरबस ही कत करत रिसइयाँ॥
> जाति पाँति तुमते कछु नाँहिन बसत तुम्हारी छइयाँ।
> अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे है कछु गइयाँ॥
> ८६३

श्री दामा भक्त हैं और श्री कृष्ण भगवान हैं। दोनों ही चेतन हैं। ज़ाति गत कोई भी अन्तर दोनों में नहीं है। दोनों ही आत्मा नाम से अभिहित होते हैं। एक अग्नि है तो दूसरा उसका स्फुलिंग, एक परम आत्मा तो दूसरा जीवआत्मा। जब भक्त मर्यादा विधानों को भी अपने उत्क्रमण में अतिक्रान्त कर जाता है तब वह स्वाधीन पुष्ट भक्त बन जाता है, अतः दोनों में जीव और ब्रह्म से जातिगत रूप में अभिन्न है। अन्तर इतना ही है कि जीव के पास गो अर्थात चैतन्य की किरणें कम हैं और आनन्दाशं तिरोहित है। ब्रह्म महान है उसके चैतन्य की समता जीव नहीं कर सकता। ब्रह्म के पास आनन्द भी स्वाभाविक है। जीव को यह प्रयत्न करने पर प्राप्त होता है इसीलिये ब्रह्म जीव पर शासन करता है और अधिकारी बनता है। स्वाधीन होने पर जीव ब्रह्म का सखा पुनः बन जाता है।

भक्ति के अंगीभाव

भक्ति भगवान से मिलाने वाला साधन है। मिलन से पूर्व वियोग है। इस वियोग को उद्योग द्वारा संयोग में परिणत करना ही भक्तियोग है। विरहिणी नामक महाकाव्य में हमने वियोग को इसीलिये प्रमुखता दी है। वियोग का भाव ही भक्ति योग की ओर संस्कृत एवं साधनाप्रवण जीवों को ले जाता है और भक्ति योग प्रभु से संयोग करा देता है। विरह इस प्रकार साधना की प्रेरणा देने वाला है। साधना में उत्साह भाव की अपेक्षा होती

है । यह उत्साह मार्ग में आने वाले प्रत्यूहों, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये साधक के हृदय में मन्यु की भावना उत्पन्न करता है जो लौकिक क्षेत्र में अपने निम्न स्तर में क्रोध कहलाता है । प्रपञ्च के प्रति जुगुपसा उत्पन्न होती है जो वीभत्स रस की माता है । मार्ग में अनेक भयावह परिस्थितियाँ आती हैं जो भयानक रस का सृजन करती हैं । अनेक विस्मयावह दृश्य भी सिद्धि पथ के मध्य में दृष्टिगोचर होने लगते हैं जो अद्भुत रस की सृष्टि करते हैं । अपनी विगत दशा पर हंसी भी आती है जो हास्यरस में परिणत होती है । विरह में अपना शोक ही करुणरस का रूप खड़ा का देता है । प्रपञ्च से तटस्थता निर्वेद भाव को जन्म देती हुयी शान्तरस की और अग्रसर हो जाती है । अतः एक भक्ति ही नाना भावों एवं तज्जन्य रसों की जननी सिद्ध हो जाती है । मधुसूदन सरस्वती ने भक्तिरसायन में इसी हेतु भक्ति रस को प्रधानता दी है ।

विरहिणी महाकाव्य में हमने जिस पद्धति का आश्रय लिया है, वही मिल्टन के पैराडाइज लोस्ट और पैराडाइज रिगेन्ड तथा डान्टे की डिवाइन कमेड़ी में है । तीनों में विरह साधना पक्ष को जन्म देता है और अन्त में अवि का भगवान से संयोग होता है । सूर सागर में प्रथम संयोग पक्ष वर्णन है । उसके उपरान्त विरह आता है और विरह के उपरान्त संयोग की एक क्षीण झांकी कुरुक्षेत्र पर्व पर दिखला दी गई है । प्रमुखता विरह की ही रही है विरह में अनेक भाव दशायें आती हैं, सूरसागर में इन सभी का वर्णन है।

विरह भक्तिकालीन कवियों एवं साधकों के हाथों में पड़ कर उत्कर्ष को प्राप्त हुआ । साधक शाश्वत विरह की कल्पना करने लगे । 'राधेहि मिलेहु परतीति न आवत ।' जैसी पंक्तियाँ सूरदास में ही नहीं, अष्ट छापी कवियों में ही नहीं, हरिदासी एवं हरवंशी सम्प्रदायों के कवियों में भी पायी जाती हैं। विरह का यह प्राधान्य सम्भवतया साधना को तीव्रता देने के लिये ही है। कवियों को इसके कारण नाना भावों में अवगाहन करने का अवसर भी प्राप्त हो जाता है, अतः सूरसागर में वर्णित अन्य भावों को हम भक्ति के अंग मान कर ही आगामी विवेचन प्रस्तुत करेंगे ।

(अ) शृंगार का संयोगपक्ष

कृष्ण का गोकुलवास और उसमें गोप-गोपियों से क्रीड़ा करना, रास रचना, गोपियों का श्री कृष्ण के सौन्दर्य से प्रभावित होना, श्रीकृष्ण को अपना

लेने की भावना, कृष्ण-प्रेम में, सब का मन डूब जाना, आदि प्रसंग संयोगपक्ष के अन्तर्गत हैं। श्री कृष्ण को मक्खन बहुत प्यारा लगता है। वह उसे गोपियों के घरों से चुराकर भी खा जाते थे। भक्तिपक्ष में मक्खन का श्वेत रंग सत्व गुण का अभिव्यंजक है। भक्तों के इसी गुण पर आधारित पवित्र भाव को भगवान स्वीकार करते हैं जैसे सत्व में स्थिति भक्त प्रभु को अपने हृदय में बसा लेना चाहता है वैसे ही गोपिकायें श्री कृष्ण को अपनाने के लिये लालायित हैं। सूर लिखते हैं :—

> चली व्रज घर घरनि यह बात।
> नन्द सुत संग सखा लीन्हें चोरि माखन खात॥
> कोऊ कहत मोरे भवन भीतर अबंहि पैठे धाइ।
> कोऊ कहत मोहि देखि द्वारै उतहिं गये पराइ॥
> कोऊ कहत केहि भाँति हरि को देखौं अपने धाम।
> हेरि माखन देहुँ खाय जितनो स्याम॥
> कोऊ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौ अंकवारि।
> कोऊ कहति मैं बाँधि राखौं कोउ सकै निखारि॥
> सूर प्रभु के मिलन कारन करति बुद्धि विचारि।
> जोरि कर विधु को मनावति पुरुष नन्द कुमार॥ ८९१॥

गोपिकारूपी भक्तों के घर में सभा, सत्संगों में यह चर्चा चल रही है कि भगवान भाव के भूखे हैं, मक्खन वाले हैं। एक ने कहा श्री कृष्ण ने अभी-अभी मेरे भवन में प्रवेश किया था। साधक अपने अन्दर ही भगवान को विराजमान पाता है, पर यह अनुभूति सदैव नहीं, कभी-कभी जागृत होती है। प्रभु के साथ अनेक दिव्य गुण हैं जो उनके सखा रूप में बिहार करते रहते हैं। वेद ने उन्हें देव कहा है। जब साधक प्रभु के दर्शन के लिये खड़ा हो जाता है, सत्व में अभि भाँति का समावेश हो जाता है। दिव्यता इसे सहन नहीं करती है। सूर इसी हेतु कहते हैं कि जब श्रीकृष्ण ने गोपी को द्वार पर खड़े देखा तो उधर ही ओझल हो गये। एक गोपी कहती है, कौन सी ऐसी उक्ति है जिससे श्रीकृष्ण के दर्शन अपने घर में करूँ। उन्हें देखते ही उन्हें अच्छा से अच्छा जितना भी खा सकें दे दूँ। सात्विक भक्त प्रभु-दर्शन के लिये अपनी अच्छी से अच्छी वस्तु का परित्याग करने को उद्यत रहता है। प्रभु से बढ़ कर तो अन्य कोई भी प्यारा नहीं है। उसकी प्राप्ति के लिये भक्त बड़े से बड़ा बलिदान को करने उद्यत रहता है। 'वेद कहता है—'महेचनत्वा मद्रिव: परा-शुल्काय वेदयामये प्रभु तुम अमूल्य हो, तुम्हारे ऊपर सैकड़ों, सहस्त्रों, लाखों

यहाँ तक की पराकोटि का द्रव्य भी न्योछावर किया जा सकता है। सूर की गोपी आगे कहती हैं—यदि एक बार नन्द सुत दिखलाई पड़ जाँय तो मैं उन्हें भुजाओं में बाँध कर रख लूँ। प्रभु से मिलने के लिये इसी प्रकार की अनेक कल्पनायें साधकों के अन्दर उब्दुद्ध होती रहती हैं। दाम्पत्य भावना के अनुसार गोपियाँ श्रीकृष्ण को पति रूप में अनुभव करती हैं। पुरुष भी वही है। हम सब का पुरुषार्थ उसी एक पुरुष की प्राप्ति के लिये है। संयोग पक्ष में सौन्दर्य का महत्व भी कम नहीं है। वेद प्रभु को सुभग अर्थात सुन्दर ही नहीं सुभगता का श्रोत कहता है, वह दर्शन श्री है, उसकी शोभा निःसन्देह दर्शनीय है। सूर के कृष्ण भी सौन्दर्य की निधि हैं। सूर ने अनेक पदों में उनकी शोभा का वर्णन किया है। यथा :—

> सोभा कहत कही नहिं आवे।
> अचवत अति आतुर लोचन पुट मन न तृप्ति को पावे।
> सजल मेघ घनश्याम सुभग वपु तड़ित वसन वन माल।
> सिखि सिखण्ड वनधातु विराजत सुमन सुगन्ध प्रवाल॥
> कछुक कुटिल कमनीय सघन अति गोरज मण्डित केस।
> सोभित मनु अम्बुज पराग रुचि रंजित मधुप सुदेस॥
> कुण्डल किरनि कपोल लोल छवि नैन कमल दल मीन।
> प्रति अंग अंग अनंग कोटि छवि सुनि सखि परम प्रवीन॥
> अधर मधुर मुस्क्यानि मनोहर करति मदन मन हीन।
> सूरदास जहाँ दृष्टि परत है होत तहीं लवलीन।१०९६

पद में जिस सौन्दर्य भाव का चित्रण है वह अधिकाँशतः इसी धरा-तल का है। मानव शरीर अपने सौन्दर्य की चरम सीमा में अति मानव अलौकिक एवं दानव रूप धारण कर सकता है इसकी सम्भावना पद में व्यंजित कई संकेतों से हो रही है। कामदेव सुन्दर है। यदि करोड़ों कामदेवों के सौन्दर्य को एकत्र किया जा सके तो सम्भवतः उस पुरुष पुराण के सौन्दर्य की झलक अनुभव करने को मिल सके। कृष्ण के मुख मण्डल पर खेलता हुआ मधुर हास कामदेव के मन को भी हीन कोटि में डाल देगा। उस सौन्दर्य के समक्ष केवल इतना ही कहा जा सकता है कि भगवान के जिस अंग पर दृष्टि जाती है वहीं पर वह तल्लीन होकर रह जाती है। बिहारी के श्रीकृष्ण की छवि को इसीलिए कोई चित्रकार चित्रित नहीं कर सका। सूर की गोपियां अत्यन्त आतुर मन होकर नेत्र रूपी दोनों से इस छवि का पानकर रही हैं पर मन तृप्त नहीं होता। तृप्त कैसे हो 'इत लोभी उत रूप परम निधि

कोउ न रहत मिति मानि ।' इधर सीमा है न उधर । दोनों ओर असीमता ही असीमता है । यदि तृप्ति हो जाती है तो मानसिक क्षेत्र की सीमा बंध जाती है और वह परम पुरुष भी असीम से ससीम हो जाता है । सूर ने उसे ससीम रूप में चित्रित करना चाहा है पर असीम को कोई कहाँ तक सीमाबद्ध करेगा । साधक का भी शरीर ससीम है, मन नहीं ।

सूर ने अपने कृष्ण के ईश्वरत्व को अनेक बार सिद्ध करना चाहा है । वे बिना किसी वक्रोक्ति के सीधे और सरल शब्दों में कहते हैं ।

जोति रूप जग नाथ जगतगुरु, जगत प्रिया जगदीस ।
जोग, जग्ग, जय, तप, व्रत दुर्लभ सोहरि गोकुल ईस

× × ×

दाता भुक्ता, हरता, करता विशम्भर जग जानि ।

× × ×

कमलानायक, त्रिभुवनदायक सुख दुख जिनके हाथ ।

× × ×

भक्त वछल प्रभु पतित उधारन रहे सकल भरपूर ।११०५।

इसके अतिरिक्त क्रियायों में भी सूर उनके ईश्वरत्व को प्रगट करते हैं । ब्रह्मा जब बालकों और बछड़ों का हरण करके ले गया तो श्रीकृष्ण ने उसी रूप के गोप बालक और गोवत्स उत्पन्न कर दिये थे । ब्रह्मा ने अपनी पराजय स्वीकार की और सबको लाकर पुनः उपस्थित कर दिया । पद संख्या ८३९ में भी अवतारों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण को ईश्वर रूप में ही चित्रित किया गया है । पद के अन्तिम शब्द हैं:—

भक्त हेतु अवतार धरे सब असुरन मारि भगाऊँ ।
सूरदास प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाऊँ ।।

गोपिकायें आनन्द कन्द व्रजचन्द श्रीकृष्ण की शोभा का पार नहीं पातीं । गोपियाँ ही नहीं, "मोह थिर चर विटप विहंगम व्योम विमान थकाई। कुसुमांजलि बरसत सुर ऊपर सूरदास बलिजाई ।।१२४४ चर, अचर, विटप विहंगम सभी कृष्ण को देखकर मुग्ध हो रहे हैं । यहीं नहीं देवता भी विमानारूढ़ हो व्योम में विथकित हो श्रीकृष्ण के ऊपर पुष्प-वृष्टि कर रहे हैं । जिसे देखकर इच्छा की गति भी अवरुद्ध हो सके । उसमें इच्छा का केन्द्र नागर मन डूबेगा नहीं तो और क्या करेगा । बुद्धि और विवेक किसी का बल इस क्षेत्र

में काम नहीं करता। गोपियां चकोर के सदृश्य इस व्रज चन्द्र की ओर अपलक देखा करती हैं। वे बिना मोल की दासी हैं। जो चरण कमल महामुनियों के लिए भी दुर्लभ हैं, स्वप्न गत मन की महिमा भी नहीं पहुंच पाती उनका सामीप्य गोपियों को प्राप्य है। यह सानिध्य कठिन तपश्चर्या के उपरान्त ही उपलब्ध होता है। कृष्ण के एक–एक अंग पर गोपियाँ न्यौछावर हो रही है। कोई नख इन्दु को देखकर भूली पड़ी हैं, किसी को चरण युगलों की लालिमा ने वशीभूत कर लिया है। कृष्ण के जंघा, कटि, काछनी, मेखला, नाभि रोमावली सभी गोपियों के लिए अद्भुत हैं, आकर्षक हैं। नेत्रों ने तो उस छवि के आगे अपना निमेष ही शेष कर दिया है और गिरा की गति भी पंगु हो गई है। गोपियाँ अनुभव करती हैं कि इस छवि-दर्शन के हेतु तो रोम-रोम में नेत्र होने चाहिए थे। गोपियों के साथ पशु-पक्षी, द्रुमलता आदि सभी कृष्ण-दर्शन से सुख तथा उन्हें न देखने पर व्याकुलता का अनुभव करते हैं। यथा:—

मोहन जादिन वनहिं न जात तादिन पशु पक्षी द्रुम वेलि बिनु देखे अकुलाते।
देखत रूप निधान नैन भरि ताते नहीं अघात।३८२२।

कृष्ण का मुरलीवादन भी संयोग पक्ष का एक विशिष्ट आकर्षक उपादान है। व्रज बालायें लोक और कुल की लज्जा को छोड़ कर मुरली ध्वनि सुनते ही श्रीकृष्ण के पास पहुँच जाती हैं[1] और वहाँ घण्टों खड़ी रहती हैं, जैसे चित्रलिखित आकृतियाँ हों। सूर के मुरलीवादन पर अनेक पद लिखे हैं। निम्नांकित पद में मुरली के भावों का अनुभव कीजिये।

बंसी री वन कान्ह बजावत।
आनि सुनौ स्रवननि मधुरे सुर राग मध्य लैं नाम बुलावे।
सूर, स्रत तान विधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत॥
जुर जुग भुज सिर सेष सेल मथि वदन पयोधि अमृत उपजावत।
मनो मोहनी वेसधार के मनमोहत मधुपान करावत॥
सुर नर मुनि बस किये राग रस अधर सुधा रस मदन जगावत।
महामनोहर नाद सूर थिर चर मोहे कौ मरम न पावत।
मानहु मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख सीस डुलावत॥
१२६६

---

१. मुरली ध्वनि स्रवनि सुनत भवन रहि न परै, ऐसी को चतुर नारि धीरज मन धरै।

कृष्ण वन में वंसी बजा रहे हैं, गोपियों ! कान लगा कर सुनो, कितनी मादक मधुर ध्वनि है। राग की ध्वनियों में गोपियों के एक-एक नाम को ले कर बुलाया जा रहा है, जितने स्वर हैं, श्रुतिया हैं, कानों के बन्धन हैं, उन सब के साथ अतीत काल के और भविष्यतकाल के सातों स्वर मुरली ध्वनि में उपस्थित हो गये हैं, ध्वनि क्या है ? ध्वनि क्या निकल रही है ? अमृत उत्पन्न हो रहा है। इसके लिये मुख पयोधि बना है, शिर शैल बना है और दोनों भुजायें शेषनाग का काम कर रही हैं। मथानी स्वयं मुरली है, अमृत निकल आया तो मोहिनी रूप धारण कर के श्रीकृष्ण रूप में विष्णु भी क्यों खड़े! हैं। कितना मन मोहक रूप है। पहले देवताओं को मधुपान कराया था अब गोपियों को करा रहे हैं, मुरली के राग रस में सुर नर मुनि सब को वसीभूत कर लिया है, इस मनोहर नाद से जड़-जंगम सभी मोहित हो रहे हैं, पर उसके मर्म को नहीं समझ पा रहे हैं। जैसे मूक मिष्ठान के गुण का वर्णन नहीं कर सकता केवल सिर हिला देता है वैसी ही दशा इन सब की हो रही हैं। जो मुरली वादन कीर, पिक, आदि खग ही नहीं वेलियों का भी मुग्ध कर देता था, उसके श्रवण गोचर न होने पर यह सब बिलखने लगते हैं। जीर्ण जैसे प्रतीत होने लगते हैं, स्थिर एवं अधीर हो जाते हैं :—

जो मुरली ध्वनि सुनत श्रवनभरि ते मुख फल नहिं खात।
ते खगि विपन अधीर कीर, पिक डोलत है बिलखात ॥
३८२२

भागवत में भी वेणु गीत आया है। वेणु क्या है ? यह अनाहत नाद है। सहस्त्राद से फूट कर आने वाला रस है, जिसके सामने लौकिक रस सभी निष्प्रभ हो जाते हैं। इस रस का आस्वाद लौकिक मर्यादाओं पर पानी फेर देता है। शील और लज्जा गृह शरीर के सम्बन्ध सब मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं। विधि का विधान उसके आगे नहीं चलता। इस का ऐसा ही नूतन नियम है।

सूर ने मुरली के बहाने पद संख्या १२७३ में कृष्ण की त्रिभंगी मुद्रा का चित्र खींचा है। साथ ही संयोग पक्ष की एक मधुर मुद्रा का। मुरली पति को वस में करने वाली नारी है जो उन्हें नाना प्रकार से नचा रही है—उस का अधिकार सर्वोपर है, उसकी आज्ञा से कृष्ण एक पैर के बल खड़े हो जाते हैं, आज्ञा पालन में कमर टेढ़ी हो जाती है, गर्दन झुक जाती है। इतना ही नहीं कृष्ण के अधरों की शय्या बना कर मुरली लेट जाती है और कृष्ण से

कहती है अपने कोमल करों से मेरे पैर दाबो। कृष्ण वसवर्ती ठहरे आज्ञा का पालन करते हैं—सूर ने इस पद में त्रिभंगी मुद्रा का चित्र अंकित करके प्रणव की आवृति को प्रस्तुत किया है। जो रचना की मूल आवृति है—अदित या अखण्ड अवस्था के पश्चात् सर्व प्रथम यही अवस्था आती है इसका एक नाम अनुमत भी है। मन की सारस्वत धारा इसके उपरान्त आती है जिसने प्रणव की त्रिभंग्या वेदमयी के रूप में समाविष्ट रहती है। वाचस्पति की गान्धर्वी, वैखरी वाणी का पवित्र रूप ज्ञान के विभागों को लिये हुए हम सब की वाणी को पवित्र करता हुआ सब के पश्चात आता है यही हमें मुरली की ध्वनि अथवा प्रणव नाद की ओर ले जाता है।

(आ) मिलनभाव के चित्र

मिलन भाव में सूर ने राधा को अग्रतम स्थान दिया है। अन्य गोपिकायें केलिक्रीड़ा में सहायक बनती हैं, रास में भाग लेती हैं, पर इस अंतिम अवस्था से वंचित हैं। भक्ति के क्षेत्र में सभी साधक एक स्तर के नहीं होते। कुछ सेवक कुछ सहायक कुछ स्नेही और कुछ अधिक सामीण्य के अधिकारी होते हैं। राधा भगवान की ह्लादिनी शक्ति है (वही उनसे संयुक्त है।) राधा को स्वकीया भी इसी आधार पर कहा जाता है। चन्द्रावली परकीया है। विरह में तो परकीया भाव का महत्व है, संयोग में नहीं, यद्यपि सूर ने चन्द्रावली के सम्बन्ध में भी संयोगावस्था के संकेत दिये हैं। राधा के सम्बन्ध में संकेत नहीं, स्पष्ट वर्णन है, सखियाँ आपस में कह रही हैं :—

> सुनहु सखि राधा सरि को है।
> जो हरि है रति-पति मनमोहन, याको मुख सो जोहै ॥
> जैसे स्याम नारि यह तैसी सुन्दर जोरी सोहै।
> इह द्वादस वेऊ दस ह्वै के व्रजजुवतिन मन मोहै ॥
> मैं इन को घटि बढ़ि नहीं जानति भेद करे सो को है।
> सूर स्याम नागर इह नागरि एक प्राण तनु दो है ॥ २५२१

राधा और श्रीकृष्ण दो शरीर होते हुए भी एक प्राण हैं, इनमें भेद कर ही कौन सकता है ? शक्ति को शक्तिमान से पृथक करने की शक्ति किस में है ? दोनों की आयु द्वादश वर्ष की है—न बाल न वृद्ध और न प्रौढ़ ही कोमल सुकुमार, स्नेहभरित, कमनीय अवस्था। जैसे स्याम वैसी राधा—अनन्य सुन्दर जोड़ी है। दोनों एक दूसरे को देख रहे हैं, परस्पर सधस्थ है, आमने

सामने हैं, एक दूसरे के समक्ष हैं। इस सम्बन्ध को देखते हुए कहा जा सकता है कि राधा की समता कोई भी गोपी नहीं कर सकती। मिलन के कुछ चित्र देखिये :—

नवल गुपाल, नवेली राधा, नये प्रेम रस पागे।
अन्तर वन विहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे।
सोभित सिथिल बसन मनमोहन, सुखवत स्रम के पागे।

× × ×

अति रस रासि लुटावत लूटत लालची लाल सभागे।
नहिं छूटति रति-रुचिर भामिनी, वा रस में दोउ पागे।
मनहुँ सूर कलपद्रुम की सिधि लै उतरी फल आगे॥
१३०४

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर स्याम भुजा अपने उर धरिया।
क्रीड़ा करत तमाल तरुन पर स्यामा स्याम उमंग रस भरिया।
यों लपटाइ रहे उर-उर ज्यों मरकत मनि कंचन में जरिया।
उपमा काहि देउ को लायक, मन्मथ कोटि वार ने करिया।
सूरदास बलि-बलि जोरी पर नंद कुँवर वृषभानु कुंवरिया।
१३०६

राधा और कृष्ण के युग्म की उपमा कहीं पर भी नहीं है। न पृथ्वी पर न अन्तरिक्ष में और न द्यौ लोक में। रति और मंथन की भी जोड़ी है, पर ऐसी करोड़ों जोड़ियां राधा और कृष्ण की युगवद्धता पर न्यौछावर की जा सकती हैं। स्वर्ण जटित मरकत मणि की भाँति यह युग्मता इससे ओत-प्रोत हो रही है। राधा आह्लाद हैं, स्वर्ण के समान देदीप्यमान और कृष्ण मरकत-मणि हैं, जिन पर किसी का रंग त्रिकाल में भी नहीं चढ़ सकता। जो अपने आप में अनुपम हैं, वे अन्य कैसे उपमित या प्रभावित किये जा सकते हैं ?

नवल गोपाल सदैव से ही नवल, क्षण-क्षण नवल, रमणीयता के ही प्रतिरूप, आज नवल नागरी राधा के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। अभिनव प्रेम में पगे हुए, आप-आप से ही अनुराग करने वाले दोनों आन्तरिक बना-विहार में मग्न हैं। बाहर का बन-विहार तो बहुतों ने देखा होगा, पर इस अन्तरचारी क्रीड़ा के दर्शन कितने व्यक्तियों अथवा साधकों ने किये हैं ? अन्तः प्रवेश ही

नहीं, तो दर्शन की बात करना भी व्यर्थ है। हमारी बाह्योन्मुखता की अधिकता, प्रबलता हमें कभी एकान्त शान्त होने ही नहीं देती। यदि एकान्त शान्त हो भी सके, तो उस विहार तक पहुँचना तो फिर भी शेष रह जाता है, जो चैतन्याग्नि पर आरोहण किये बिना अकल्पनीय है। इस विहार की रस-राशि को लूटना और लुटाना सौभाग्य के स्रोत एवं किसी सौभाग्यवती शक्ति का ही काम है। वह सार्थक एवं भावात्मक है। वह द्रुम है, जिस पर मधुर अमृत फल लगते हैं, कोई गौरी ही, राधा ही, उस मधुफल का आस्वादन करने में समर्थ हो पाती है।

वेद कहता है:—
स्वादोस्त्थिा विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरी तृष्णा मदन्ति शोभसे, वस्वी रनु स्वराज्यम ॥
भृ १८४/१०

आनन्द की वर्षा करने वाले इन्द्र आत्मा के साथ निरन्तर विहार करने वाली गौरी व्यापक स्वादिष्ट मधु का पान करती है। उस समय उसकी जो शोभा होती है, उसका वर्णन कोई नहीं कर सकता। उस समय वह स्व—राज्य में विचरण करती है। इस अवस्था के पूर्व परराज्य है, पराधीनता है। स्वतंत्रता नहीं। स्व का वस्तुतः अपना आत्मा का राज्य तो प्रभु के साथ रह कर अमृतास्वादन में है। सूर राधा को इसी स्वराज्य के मधु का पान करा रहे हैं।

(आ) नायिका भेद

संयोग पक्ष के अन्तर्गत अनेक भाव आते हैं जिनके चित्र नायिका भेद में देखे जा सकते हैं। सूरसौरभ में हमने नायिका भेद पर विस्तार से लिखा है, यहाँ केवल कुछ चित्र उपस्थित किये जाते हैं:—

वचन-विदग्धा नायिका:—वचन व्याज या वचन चातुर्य से अपना कार्य सिद्ध करने वाली नायिका को वचन-विदग्धा नायिका कहते हैं। स्वयं दूती का भी इसी उपाय द्वारा अपना कार्य निकालती है, पर उसका नायक अपरिचित होता है। वचन विदग्धानायिका का नायक परिचित होता है :—

तब राधा इक भाव बतावति।
मुख मुसकाइ सकुचि पुनि लीन्हों, सहज चली अलके निरुवारति ॥

एक सखि आवत जल लीन्हें, तासों कहति सुनावति ।
हेरि कह्यौ घर मेरे जैहो मैं जमुना तै आवति ।।
तब सुख पाइ चले हरि घर कौं हरि प्रियतमहिं मनावति ।
सूरज प्रभु वितपन्न कोक गुन ताते हरि-हरि ध्यावति ।२६४२।

राधा ने कृष्ण को देखा । मुख पर मुसकान छा गई । कुछ संकोच भी हुआ, पर शिर के बालों को अलग अलग करती हुई राधा आगे निकल गई, अभी तक आँतरिक प्रेमगत चेष्टायें ही बाहर प्रगट हुईं थीं । राधा ने उसे पुकारा और उसको कहने के व्याज से वह कृष्ण को सुनाने लगी, देखो तुम मेरे घर चलना । मैं यमुना से अभी लौटकर आती हूँ । श्रीकृष्ण इस बचन को समझ गये और राधा के घर पहुंच गये ।

एक ध्वनि इसी वाक्य से यह भी निकल सकती है कि सखी तो घर चली गई पर कृष्ण को राधा ने विरमा लिया । यह है कोक-गुण में व्युत्पन्नता । कोक चकवा-चकवी को कहते हैं। इस पक्षियुग्म का प्रेम भी सराहनीय है, जिसे अनुभव करके कोकशास्त्र का निर्माण हुआ । प्रेम में व्युत्पन्नता सबके भाग्य की वस्तु नहीं है । लौकिक प्रेम की साधना भी कठिन है, फिर अलौकिक प्रेम की साधना का तो कहना ही क्या ? वह तो खरी क्षुर-धार पर प्रयाण करना है ।

अभिसारिकाः— श्रृंगार से सुसज्जित होकर जो नायिका नायक से मिलने के लिए नियत संकेत स्थल पर जाती है, वह अभिसारिका नायिका कहलाती है, यथाः—

प्यारी अँग सिंगार कियो ।
बैनी रची सुभग कर अपने, टीका भाल दियो ।।
मोतियानि माँग संवारि प्रथम ही केसरि आड़ संवारि ।
लोचन आंजि, स्रवन तरिवनि छवि को कवि कहै निवारि ।।
नासा नथ अति ही छवि राजत वीरा अधरन रंग ।
नवसत साजि चली चोली बनि सूर मिलन हरि संग । २६४५ ।

इस पद में राधा की श्रृंगार-सज्जा का वर्णन है और यह भी कहा गया है कि वह परिधान एवं अलंकारों से मंडित होकर श्रीकृष्ण से मिलने जा रही है ।

विप्रलब्धा नायिका:— जो नायिका संकेत स्थल अथवा केलि-मंदिर में पति को न पाकर अपने को प्रवंचिता अनुभव करती है और दु:खी होती है, विप्रलब्धा नायिका कहलाती है। यथा:—

राधा चकित भई मन माहीं।
अबही स्याम द्वार ह्वै झांके, ह्यां आये क्यों नाहीं ॥
आपुन आइ तहां जो देखे मिले न नन्दकुमार।
आवत ही फिरि गये स्याम घन अति ही भयौ विचार ॥
सूने भवन अकेली मैं ही नीके उझकि निहारयो।
मोते चूक परी मैं जानी ताते मोहि विसरायो। २६९३।

कृष्ण ने राधा से मिलने का निश्चय प्रकट किया था। राधा प्रतीक्षा में रही और स्वयं संकेत स्थल पर पहुंच गई। पर वहां जब दृष्टि डाली तो नंद या आनन्द के कुमार, आनन्द में नित्य विहार करने वाले श्रीकृष्ण दिखाई न पड़े। विचार हुआ, क्या वे आकर लौट गये ? अथवा द्वार पर झांककर चले गये। वे यहाँ क्यों नहीं आये ? शून्य भवन में अकेली खड़ी राधा का यह चित्र जिसकी दृष्टि इधर उधर झाँकने और श्रीकृष्ण को पाने के लिए आतुर प्रतीत होती है, कितना व्यथित करने वाला है। प्रवंचिता नायिका नायक के अन्दर नहीं, अपने ही अन्दर किसी अपराध का अनुभव कर रही है। नायक ने उसे विस्मृत कर दिया, यही उसके दु:खी होने का कारण है।

मध्या अधीरा नायिका:— खण्डिता नायिका प्रिय को पाकर जब उन्मुक्त शब्दों में उसे उलाहना देती तथा क्रोध प्रकट करती है, तब वह मध्या अधीरा नायिका कहलाती है। यथा:—

मोहि छुवौ जिनि दूर रहौ जू।
जाको हृदय लगाइ लई है, ताकी बाँह गहौ जू ॥
तुम सर्वज्ञ और सब मूरख, सो रानी और दासी।
मैं देखति हिरदय वह बैठी, हम तुम कों भई हाँसी।
बाँह गहत कछु सरम न आवत, सुख पावत मन माहीं।
सुनहुं सूर मों तन को इकटक सुख चितवत डरपत नाहीं।३०३४।

विशुद्ध लौकिक क्षेत्र है। नायिका कहती है- मुझे मत छुओ। जिसको हृदय से लगा लिया है, उसी की बांह पकड़ो। तुम समझते हो, अन्य सब मूर्ख हैं, तुम्ही केवल सर्वज्ञ हो। और वही एक रानी है, अन्य सब दासियाँ

है । मेरी बाँह पकड़ते तुम्हें लज्जा नहीं लगती ? मन ही मन में सुख पा रहे हो । मेरी ओर देखते हो, इकटक दृष्टि से देखते हो और संकोच तक का अनुभव नहीं करते !

आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर दृष्टि ले जाइये तो इस नायिका के रूप में एक अधीर असफल साधक खड़ा दिखाई देगा जो जानता है कि प्रभु ने अतीत काल में कितनों का उद्धार नहीं किया । यदि वे उद्धार के अधिकारी थे तो वह क्यों नहीं ? क्या उसने कम तपश्चर्या की है ? प्रभु आते हैं और कुछ सिद्धियाँ उसके सामने बिखेर देते हैं—जैसे वांह पकड़ना और इकटक देखना प्रपञ्च से संघर्ष करने में उसे सहारा देना, और यश-कीर्ति का भागी बनाना । साधक को यह नहीं चाहिये । उसे तो प्रभु के सानिध्य की सतत अनुभूति चाहिये । जब तक यह प्राप्त नहीं होती, तब तक तो वह झुंझलाता ही रहेगा, अधीर ही बना रहेगा ।

उत्कण्ठिता नायिक :—जो नायिका नायक की प्रतीक्षा में बाट जोहती हुई उनके स्वागत की तैयारी करती है, और वह आने ही वाले हैं, ऐसी लालसा में निमग्न रहती है, उसे उत्कण्ठिता नायिका कहा जाता है । यथाः—

ललिता—सांझहि तें हरि पंथ निहारै ।
ललिता रुचि करि धम्म आपने सुमन सुगंधनि सँवारे ।।
कबहुँक होति बारने ठाड़ी, कबहुँक गनति गगन के तारे ।।
कबहुँक आइ गली मग जोवति अजहुँ न आये स्याम पियारे ।।
३०९७

ललिता संध्याकाल से ही श्याम की बाट जोह रही है, वह अपने हाथ से पुष्प तथा सुगंधित द्रव्यों से शैया को सजा रही है । कभी वह द्वार पर खड़ी होकर देखने लगती है, कभी आकाश के तारों की ओर दृष्टि ले जाती है, कभी वीथी में आकर पथ की ओर आँखे लगा कर देखती है और सोचने लगती है, श्रीकृष्ण अभी तक क्यों नहीं आये । ललिता का यह चित्र उत्कण्ठिता नायिका का चित्र है ।

अध्यात्म में साधक का सिद्धि की प्राप्ति के लिये सम्पूर्ण तैयारी करने का उपक्रम भी इससे व्यञ्जित हो रहा है । साधक उत्कण्ठित है, प्रभु के दर्शनार्थ । सभी साधक अपनी साधना-यात्रा में इस उत्कण्ठा का अनुभव करते हैं ।

जैसे नायिकाओं के भेद है, वैसे ही नायक के भी। अध्यात्म में इन्हें हम बहुविध दिव्य शक्तियों के रूप में कहेंगे। प्रधान नायक तो एक ही है जो प्रणव है। दिव्य-शक्तियाँ उसके पास ले जाने वाली हैं। अतः उन की आराधना साधना भी करनी ही पड़ती है। बिना उनको हृदय में स्थान दिये अन्तिम गन्तव्य हाथ नहीं आता। इन शक्तियों में ब्रह्मा, शिव गणेश, सूर्य, सरस्वती आदि के विभिन्न रूप हैं।

(इ) भाव-भेद

बीच बीच में विवशता, पश्चाताप, अतृप्ति, लालसा, व्यामोह, विस्मृति, व्याधि, जड़ता, उन्माद, हर्ष, तन्मयता आदि के जो भाव उत्पन्न होते रहते हैं, उनके चित्र भी सूरसागर में चित्रित हुए हैं, यथा:—

विवशता:— मैं मन बहुत भाँति समझायो।
कहा करौ दरसन रस अटक्यो बहुरि नहीं घट आयो।
इन नैननि के भेद रूप-रस उर में आनि दुरायो।
बरजत ही बेकाज सुपन ज्यों पलट्यो वहि जो सिधायो॥
लोक वेद कुल बिदरि निडर ह्वै करत आपनो भायो।
मुख छबि निरखि चौकिनिसि खग ज्यों हठि अपन्यो बंधायो॥
हरि को दोष कह कहि दीजे, यह अपने बल धायो।
अति विपरीत भई सुनि सूरज, मुरझयो मदन जगायो॥
२५०७॥

गोपी अपने मन में विवश है, उसके ज्ञान ने अनेक प्रकार से प्रबोध दिया, पर कृष्ण के दर्शन-रस में फंसा हुआ मन फिर लौटकर नहीं आया। कैसा चतुर है यह मन। रूप का दर्शन किया था। नेत्रों ने, पर दोनों में भेद डालकर इसने रूप-रस को अन्दर हृदय में ले जाकर छिपा दिया। यह स्वयं हृत्प्रतिष्ठ ही जो ठहरा। जैसे स्वप्न आकर चला जाता है और फिर लौट कर नहीं आता, वैसे ही मेरा मन मेरे हाथ से निकल गया। इसने न लौकिक मर्यादा की ओर ध्यान दिया और न वैदिक विधान की ओर। निस्शंक होकर इसने अपनी रुचि को सबसे अधिक मान्यता दी। कृष्ण की मुख-छवि को जो इसने देखा तो रात्रि के पक्षी की भांति यह चकाचौंध में पड़ गया और दृढ़-पूर्वक इसने अपने आप को बंधन में डाल दिया। भगवान को भी क्यों दोष

दिया जाय, यह अपने बल बूते पर उनकी ओर दौड़ा था। गोपी की विवशता तो पद में छलक ही रही है। मुक्ति की जो कामना कहीं दबी पड़ी थी वह भी इस रूप में अंकुरित होकर बाहर आ गई।

पश्चातापः– (१) चूक परी मोते मैं जानी मिले स्याम बकसाऊँ री।
चरन गहौ गोद करि करसों पुनि पुनि सीस छुवाऊंरी ॥
सूर स्याम अपराध छमहुँ अब यह कहि-कहि जु सुनाऊंरी
२७२१।

(२) मोते यह अपराध परयो।
आये स्याम द्वार भये ठाढ़े मैं अपने जिय गर्व धरयो।
जानि बूझि मैं यह कृत कीन्हों मेरेहि सीस परयो ।२७१६।

गोपी पछता रही है। अपने किये पर उसे आक्रोश भी आता है और विषाद का अनुभव भी होता है। वह सोचती है श्याम तो द्वार तक आ गये थे, मैंने ही गर्व में आकर उनका स्वागत नहीं किया। जानबूझ कर किया हुआ यह कृत्य अब मेरे ही सिर पर पड़ा है। अबकी बार यदि श्याम मिल जांय तो मैं सिर उनके चरणों में रख दूँ और अपने अपराध की क्षमा मागूं। पश्चाताप में उनके कृतकार्यों की त्रुटियों पर ध्यान जाता है और हृदय मसोस कर रह जाता है।

अन्तृप्तिः— नखसिख अंग अंग छवि देखत नैना नाँहि अघाने।
निसि वासर इकटक ही राखे पलक लगाई न जाने ॥
छवि तरंग अगनित सरिता जल लोचन तृप्ति न माने।
सूरदास प्रभु की शोभा को अति व्याकुल ललचाने ।२७४४।

श्रीकृष्ण के नख से शिखा तक जितने अवयव हैं सबकी छवि अनन्त है। नेत्र टकटकी लगाकर उन्हें देखते हैं। दिनरात देखते रहते हैं पर रूप सौन्दर्य के जल में छवि की इतनी तरंगे उठती हैं कि नेत्र उन्हें देखते ही रह जाते हैं, तृप्त नहीं होते हैं, श्याम के रस रूप का माधुर्य अपार है। नेत्रों का अन्तृप्ति रहना भी कम नहीं बहुत अधिक है।

देखि सखी राधा अकुलानी।
ऐसे अंग-अंग छवि लूटत मिलेहु नहीं पतियानी ॥
जैसे तृषावन्त जल अँचवत वह तो पुनि ठहरात।
यह आतुर छवि लै उर धारति नैकु नहीं तृपतात ।२७३९।

राधा कृष्ण के अंग अंग की छवि को लूट रही है। पर इस मिलन में भी उसका विश्वास स्थिर नहीं होता। प्यासा व्यक्ति जल पीता है तो जल पीकर ठहर भी जाता है, राधा आतुर होकर तनिक छवि को हृदय में ले जाकर धारण करती है फिर भी वह तनिक तृप्ति का अनुभव नहीं करती है।

लालसाः—(१) नैनन बहे रूप जो देखौं।
तौ ऊधौ यह जीवन जग को साँच सुफल करि लेखौं॥
लोचन चपल चारु खंजन मन रंजन हृदय हमारे।
सारँग कमल मृग मीन मनोहर सेत अरुन अरु कारे॥
४१७८॥

(२) अबके जो प्रिय पाऊं, तो हृदय मांझ दुराऊँ।
हरि को दरसन पाऊँ, आभूषण अंग बनाऊँ।२७२४।

गोपिका की लालसा ऊपर की पंक्तियों में अभिव्यक्त हो रही हैं। गोपी चाहती है कि कृष्ण का रूप उसे देखने को मिले जिससे वह अपने जीवन को सफल कर सके। कृष्ण का रूप उसके नेत्रों में बसा हुआ है। यदि इस बार श्रीकृष्ण मिल जाते हैं तो मैं उन्हें हृदय में छिपा लूंगी। अंगों में आभूषण धारण करने की सार्थकता तो तभी है जब हरि के दर्शन प्राप्त हों।

हर्षः— गोपिका अति आनन्द भरी।
माखन दधि हरि खात प्रेम सों निरखत नारि खरी॥

गोपिका चुपचाप कृष्ण को माखन खाते देख रही है। उसकी दृष्टि प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण की ओर जाती है और उसे इस दृश्य को देखकर परम हर्ष का अनुभव होता है।

चितय हरि वदन याको हँसत मैं लखी
वै उतहिं गये कछु हर्ष कीन्हें।२६४३।

इस पंक्ति में राधा और कृष्ण एक दूसरे को देखकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

(ई) शृंगार में वीर भाव का चित्र

वीर गाथाकालीन काव्यों में शृंगार और वीर दोनों रसों का परि-पाक पृथक्-पृथक् रूप से रहता था। ऐसा विचारकर कि शृंगार वीर के लिए है और वीर शृंगार के लिए। कुछ कवियों ने शृंगार को भी वरी

का रूप दे दिया, इसे हम भावाभास मात्र कहेंगे। वर्णन वस्तुतः शृंगार का ही होता है वीरभाव का उस पर आरोप मात्र रहता है। सूरसागर के निम्नांकित पद में ऐसा ही एक भाव-चित्र प्रस्तुत किया गया है:—

बहुरि फिरि राधा सजति सिंगार।
भनहु देति पहिरावति अंग रन जीते सुरति अपार॥
कटि तट सुभटनि देति रसन षट भुज भूषन उर हार।
कर कंकन काजर, नंक बेसरि दीन्हों तिलक लिलार॥
बीरा बिहँसि देत अधरन को सम्मुख सहे प्रहार।
सूरदास प्रभु के जो विमुख भये बाँधति कायर बार॥२८०१॥

पद में शृंगार युद्ध में विजयिनी बनकर राधा अपने वीर सैनिकों को आभूषण प्रदान कर रही है। युद्ध से विमुख रहने वाले अंगों को कुछ भी प्राप्त नहीं हो सका। कृष्ण के साथ रण करनेमें बालों ने कुछ भी भाग नहीं लिया-अतः वे कायर घोषित कर दिए गये और उनको बन्धन का दण्ड दिया गया। परन्तु जिन्होंने सामने डटकर युद्ध किया है उन्हें पारितोषक भीमिला। राधा के सैनिकों के सामने कृष्ण की सेना भला क्या ठहरती। इसीलिएयह विज—योत्सव मनाया जा रहा है। हाथों को कंकण, नासिका को नथ, ललाट को तिलक, अधरों को बीड़ा और वक्षस्थल को हार पहनाया दिया अथवा जा रहा है। धन्य है, यह सूर की काँत एवं क्राँत कल्पना। शृंगार सज्जा के अंगीभूत आभूषणों का वर्णन भी कर दिया और उसके साथ विजयोत्सव मनाकर उपहार भी वितीर्ण* करा दिये। एक साथ दो-दो कार्यों की सिद्धि, दो-दो भागों का चित्रण कितना कठिन, पर सूर के लिए कितना सरल है जिसे हम आभास मात्र कह रहे थे, उसे उत्प्रेक्षा तथा रूपक अलंकारों द्वारा कवि ने ऐसा रूप दिया जिसकी वास्तविकता का प्रत्याख्यान करते नहीं बनता। यह भाव-चित्रण भाव एवं कल्पना के धनी महाकवि सूर का ही कार्य है। इसमें लीला के अनुकूल खेल भी है और तत्व भी।

× सूर सौरभ—चतुर्थ संस्करण पृष्ठ २४७।

अष्टम् अध्याय

वियोग पक्ष

शृंगार में संयोग की अपेक्षा वियोग पक्ष अधिक महत्व रखता है। प्रेम की पूरी परीक्षा इसी पक्ष में होती है। प्रिय से वियुक्त होने पर भी यदि प्रेमी का प्रेम सुरक्षित है तो वह वास्तविक प्रेम है। यह प्रेम शरीर संश्लेष से पृथक है। मानसिक क्षेत्र में इस प्रेम की गुरुता वियोग के कारण वर्धमान होती रहती है। यदि क्षीणता आ गयी तो प्रेम की सत्यता पर प्रश्न सूचक चिन्ह लग जायगा। जो बात लौकिक क्षेत्र में है वही आध्यात्मिक क्षेत्र में भी है। आत्मा परमात्मा से वियुक्त हो कर याज्ञिय एवं अयाज्ञिय पाशों में आबद्ध होता हुआ नाना प्रकार की योनियों में भटकता है और क्लेश-भाजन बनता है। आपत्तियाँ एवं निऋति की कच्छापतियाँ उसे व्याकुल कर देती हैं। परिणामत: उसे अपने सहज आनन्द की याद आती है जो उसके निकटतम होता हुआ भी उससे दूरतम हो गया है। अयज्ञिय पाश उसकी दुष्कृतियों एवं विकारों से उत्पन्न होते हैं, इसके लिये सत्कर्मों का सहारा लेना पड़ता है, जिसे हम 'आचारशास्त्र' कहते हैं। भद्र और अभद्र का विवेक कहते हैं। शुभ एवं अशुभ संकल्पों का परिणाम कहते हैं। वह इन्हीं दुष्कृतियों के आवरणों को छिन्न-भिन्न करने वाला है। अशुभ को छोड़ कर हम शुभ में प्रवेश करते हैं और यज्ञिय अर्थात पवित्र बनते हैं। वेद यज्ञिय पाशों से भी मुक्त होने का आदेश देता है। ये पाश क्या हैं और आत्मा को किस प्रकार आवृत करते हैं, यह सृष्टि विज्ञान का विषय है। प्रकृति के सुमधुर फलों का आस्वाद लेने के लिये आत्मा जब लालायित होती है तभी यज्ञिय पाश उसे विधि विधान के अनुसार आच्छादित कर लेते हैं। ये पाश सैकड़ों एवं सहस्त्रों की संख्या में फैले हुये हैं। इन वितत पाशों को चीर कर मुक्ति पा लेना सरल कार्य नहीं है।

इसके लिये कठोर साधना की अपेक्षा रहती है। पौराणिक अनुश्रुति चौरासी लाख योनियों की चर्चा करती है। मानव योनि में ही इन पाशों की अनुभूति की जा सकती है। मेरा शरीर एक यज्ञ का रूप है। प्राण यज्ञ की प्रक्रिया को सम्भाले हुये हैं। इस यन्त्र में जितनी गतियाँ तथा प्रतिगतियाँ होती हैं सबकी सब एक विशिष्ट लक्ष्य को सम्मुख रखती हैं। इस लक्ष्य में स्वार्थ नहीं परमार्थ भी निहित रहता है। इसीलिये अंग-अंग की गति को यज्ञ का रूप देते हैं। आँखें देखती हैं, कान सुनते हैं, आमाशय रस को पकाता है, परन्तु अपने लिये नहीं; सम्पूर्ण शरीर संचालन के लिये। पैर चलते हैं पर जब हाथ किसी वस्तु को ग्रहण करते हैं तो हाथ और गृहीत वस्तु दोनों की दूरी कम हो जाती है। पैरों ने हाथों की शक्ति को बढ़ा दिया। हाथ भी किसी वस्तु को ग्रहण करके अपनी मुट्ठी में बाँध नहीं रखते। उसे अन्य अंगों को देते हैं। इस समय मेरी लेखनी से जो अक्षर पत्र पर अंकित हो रहे हैं उनसे लेखनी या हाथ को कोई लाभ प्राप्त नहीं हो रहा है। अप्रत्यक्ष रूप से सम्भव है इन्हें भी कुछ उपलब्ध हो, परन्तु वह होगा समस्त शरीर के माध्यम द्वारा ही। बाह्ययन्त्र के अन्दर जो सूक्ष्म यन्त्र भीतर कार्य कर रहा है वह भी एक सामूहिक यज्ञ का ही रूप है। मन की इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया तीनों ही शक्तियाँ एक सुन्दर विदथ का निर्माण करती हैं, मैं कामना करता हूँ, फिर ज्ञान प्राप्त करता हूँ और तत्पश्चात क्रिया में प्रवृत्त होता हूँ। इस क्षेत्र में बाह्य यन्त्र की गतियों का मूल है। मन का जब तक चक्षु के साथ संगठन नहीं होता तब तक चक्षु में देखने की शक्ति नहीं आती। प्रत्येक इन्द्रिय की यही दशा है। मन ही इन्द्रियों के साथ एक होकर उनको शक्ति का रूप देता है। इन्द्रियों के साथ एक होकर उनको शक्ति का रूप देता है। इसीलिये समग्र आचार का श्रोत मन है। प्रेरणा संकल्प ज्ञान, व घृति, आशा, निष्ठा सबका केन्द्र मन है। यदि मन यज्ञिय न हुआ तो कोई भी कृति भद्र एवं पुण्यवती नहीं बन सकेगी। मन के भी भीतर जो विज्ञान का यन्त्र है वह भी अपने दो रूप रखता है—बुद्धि पवित्र एवं पापीयसी दोनों प्रकार की हो सकती है। यदि इन तीनों यन्त्रों को हम यज्ञिय बना सकें तो दुष्कृतियों से तो पार हो सकेंगे, परन्तु इन यज्ञिय पाशों से फिर भी चिपटे ही रहेंगे। वियोगपक्ष इन पाशों की प्रबलता एवं तीव्रता को अनुभव करा देता है। इसी लिये प्रेम के प्राङ्गण में उसकी महत्ता सिद्ध हो जाती है। यज्ञिय एवं अयज्ञिय पाशों की अनुभूति स्वयं एक ऐसी उपलब्धि है जो आत्मा को उत्क्रमण पथ पर आरुढ़ कर देता है। अवतरण से उत्क्रमण का आरोहण एक सुनिश्चित सिद्धि है और आत्मा को परमात्मा से मिलाने वाली है।

सूर ने वियोग से उत्पन्न जिन परिस्थितियों का उल्लेख किया है, वे

उनके निश्छल मानस से सम्भूत हुयी हैं। मन की निर्मलता यदि मिलन की ओर ले जाती है तो उत्पन्न भी वह उसी के सम्पर्क से होती है। सम्पर्क का लक्षण लोक से विरक्ति और परलोक की ओर प्रवृत्ति है। इसी से उध्वीरोहण होता है। सूर ने जहाँ आर्य मर्यादा के परित्याग का उल्लेख किया है वहाँ इन्हीं यज्ञिय पाशों से मुक्त होने का उल्लेख है। अशुभ को तो छोड़ना ही है और शुभ के साथ भी आबद्ध नहीं रहना है, क्योंकि दोनों आवरण हैं। एक अधम है तो दूसरा उत्तम। बेड़ी चाहे लोहे की हों चाहे सोने की, है वह बेड़ी ही। स्वर्ण या उत्तमता में मोह को बेड़ी से हटाना ही होगा। आध्यात्मिक क्षेत्र में शुभाशुभ परित्यागी को इसी हेतु श्रेयष्कर कहा गया है।

वियोग कितना व्यथित करता है, यह निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट हो जायगा :—

> किंशुक मा कुरु गर्वं, तव शिरसि भ्रमरोपवेशनेन।
> अमल कमल विप्रयोगा दन लधिमा त्वपि मज्जति द्विरेकः॥

भ्रमर किशुंक के पुष्प पर बैठा हुआ है, किशुंक समझता है कि भ्रमर उसके पुष्प की सुगन्धि से आकर्षित होकर बैठ गया है। कवि कहता है ऐसा नहीं है, भ्रमर किशुंक के पुष्प पर सौरभ से आकृष्ट होकर नहीं बैठा है। वह आल्हाद का अनुभव नहीं कर रहा है। उसे तो कमल के वियोग के कारण इतनी व्यथा हो रही है कि वह उसे सहन नहीं कर पाता। इसी व्यथा में वह किशुंक के पुष्प को जलती हुयी ज्वाला समझकर उसमें जलने के लिये अन्तः प्रविष्ट हो गया है। वियोग वेदना के कारण वह अपने को भस्म कर देना चाहता है। वियोग वस्तुत असह्य होता है। राम ने जब अन्तिम बार भी सीता के प्रवाद का स्मरण किया तो सीता ने भावी वियोग से बचने के लिये माँ धारित्री से याचना की, धारित्री फटी और सीता उसमें समा गईं।

आत्मा का वियोग भी अतीव व्यथाकारी है, इस व्यथा का मन्थन आत्मा के अवयव को झकझोर देता है। सूर ने इस वियोग का अतीव हृदय-स्पर्शी वर्णन किया है, गोपियाँ वियोग के दिनों में संयोग के क्षणों का स्मरण करता है, वे कभी अपने अपराधों पर दृष्टि ले जाती हैं और कभी अपनी असमर्थता पर ध्यान को केन्द्रित करती हैं। उन्हें अपने अतिरिक्त प्रकृति पशु पक्षी, वृक्ष, लता, सरिता आदि भी कृष्ण के वियोग में व्यथित जान पड़ते हैं। सम्भव है ये सब वस्तुतः कृश एवं मुरझाये हुये हों। मानव की कृतियों का प्रभाव प्रकृति पर पड़ता है और प्राकृतिक परिस्थितियों का प्रभाव चेतन

जगत पर पड़ता है, दोनों में एक दूसरे का प्रतिबिम्ब झलकने लगता है। दुख दर्द व्यक्ति अपने चतुर्थ उदासीनता से ही फैला हुआ पाता है। सुखदायिनी वस्तुयें भी उसे दुखदायिनी जान पड़ती हैं। मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में इन दशाओं की विवेचना पायी जाती है। सूर लिखते हैं :—

सुन रे मधुकर चतुर सयाने।
सुख की सौज उठी तादिन तैं पठे श्याम विनाने ॥
नैनन तेज गयो तादिन तैं सावन ज्यों बरसाने।
उर ते हास-बिलास दोऊ मिलि, ये दुरि कहूँ लुकाने ॥
ता दिन तैं पंछी भये बैरी, भाषा ब्रैर बुलाने।
बन के बास निवास सकल ये, भये भयानक बाने ॥
मोहन प्रान हरे तादिन तैं, फेरिन यह गति आने।
विरह अनंग अनल तन दाहत को यह परे है जाने ॥
अब यह अंक देखियत ऐसे, रहे विचित्रलिखाने।
सूर संजीवन होहि सुलभ तन रूप माधुरी साने ॥
४२९३ ॥ का० ना० प्र०

उद्धव तुम विज्ञानी हो, हृदय की पीड़ा तुम्हारी समझ में नहीं आ सकती। विज्ञानी विश्लेषण कर सकता है। अपने यंत्रों के बल पर वह नाप-जोख चीड़ फाड़ आदि में निपुण हो सकता है, पर वह बुभुक्षा, तृषा आदि को पकड़ने से उसके यन्त्र असफल रहते हैं। श्याम जब से गये हैं तबसे सुख की समस्त सामग्री गोकुल से विदा हो गयी। इसे हम कैसे समझावें, कैसे दिखावें। हमारे नेत्र ज्यों के त्यों विद्यमान हैं परन्तु उनमें वह तेज नहीं रहा, तेज के स्थान पर जल-बिन्दु दिखाई देते हैं और जैसे श्रावण में वर्षा होती है इसी प्रकार वे जल-बिन्दु नेत्रों से झड़ते रहते हैं। ये जल-बिन्दु तो दिखाई दे जाते हैं, पर हृदय के हास-विलास के तिरोभाव को कैसे दिखाया जाय। जो पक्षी संयोग के दिनों में चहचहाते हुए आनन्द-वर्षा करते थे आज वे वैरी की भांति कर्ण-कटु भाषा में बोलते हैं। इनके बनवास के निवास स्थान भयंकर वेश धारण किये हैं जिस दिन से श्याम का वियोग प्रारम्भ हुआ उस दिन से पूर्व की गति लौटकर नहीं आई। यह विरह है या अनंग की उत्पन्न की हुई ज्वाला है, जिसमें समग्र शरीर दग्ध हो रहा है। कभी चित्रांकित अक सुहावने लगते थे। पर आज तो वे विकराल रूप धारण किये हैं। ये कृश शरीर कृष्ण रूपी संजीवनी को पाते ही उनके रूप माधुर्य में मग्न होते हैं। पुनः अभिनव रूप वाले बन

सकेंगे। वियोग जब तक संयोग में परिणित नहीं होता तब तक यह व्यथा जाने वाली नहीं है।

> जा दिन ते गोपाल चले।
> ता दिन ते ऊधौ या व्रज के सब सुभाव बदले॥
> घटे आहार विहार हर्ष हित सुख सोभा गुन ज्ञान।
> ओज तेज सब रहित सकल विधि आरत असम समान॥
> वाढ़ी निसा वलय आभूषन उर कंचुकी उसास।
> नयननि जल अंजन आंचल प्रति श्रवन अवधि की आस॥
> अब वह दशा प्रकट पा तन की रह्यो जाइ सुनाहि।
> सूरदास प्रभु सों कीजो जेहि बेगि मिलहिं अब आहि॥४२९२॥
> का० ना० प्र०

गोपाल जब से गये तब से सभी स्वभावों में परिवर्तन आ गया है, आहार-विहार, हर्ष, प्रेम, सुख, शोभा, संगीत सभी घट गये। इनकी न्यूनता गोपाल के वियोग के कारण ही है। ओज और तेज तो सभी प्रकार से शून्य दिखाई देते हैं, हाँ पीड़ा में और वैशम्य में समानता आ गई है, सामञ्जस्य उतना ही दूर है जितना सुख।

उर्ध्वश्वास क्या चलती है मानो हृदय के साथ कंचुकी को भी बढ़ा देती है। रात्रि भी जैसे बढ़ गई हो, वह काटे नहीं कटती, वलयनाम के आभूषण कृशता के कारण बढ़े दिखाई देते हैं। कंचुकी भी उतनी ही है पर वक्षस्थल की दुर्बलता में वह भी बढ़ी या ढीली पड़ गई है। शरीर की इस दुर्बलता का व्याख्यान यदि कृष्ण के श्रवणों में पड़ सके तो सम्भव है संयोग के क्षण पुनः पलट सकें।

वियोगी-भोगी नहीं होते, योग और भोग का साथ नहीं है। भोग अथवा आस्वाद आनन्द का प्रतीक है। आनन्द से रहित व्यक्ति का जीवन दुःख का जीवन है। दुःख सम्भवतः प्राणी को तपश्चर्या से संयुक्त कर देता है, क्योंकि दुःख में न भूख लगती है न प्यास। दुःख से प्राणी संयमी बन जाता है—गोपियों की भी यही दशा है और ये गोपिकाएं आध्यात्मिक क्षेत्र में श्रुतियाँ हैं या साधक तपस्वियों की आत्मायें। सूर ने निम्नांकित पद में गोपियों को भोगियों की मुद्रा में चित्रित किया है:—

> हम तौ तबही तैं जोग लियो।
> जब ही तैं मधुकर मधुवन को मोहन गौन कियो।

रहित सनेह सिरोरुह सब तन श्रीखण्ड भसम चढ़ाये ।।
पहरि मेखला पीर पुरातन, फिरि-फिर फेरि सियाये ।
श्रुति तरंक मेलि मद्रावलि अवधि अधार अधारी ।
दर्शन बैन कण्ठ सिंगी पिय सुमिरि सुमिरि गुन गावत ।
करतल बैंत, दण्डडर, डरत न, सुनत स्वान-दुख धावत ।।
रहत जुचित्र उदास फिरति बन बीथिनि दिन अस राति ।
बारक आवत कुटुम जातरा सोउ अब न सुहाति ।
भोग भुगुति भूवैं नहि भावत भरी विरह वैराग ।
गोरख शब्द पुकारत आरत रस रसना अनुराग ।।
भोगी को देखत या व्रज में, जोग देन जेहि आये ।
यानी सिद्धि तुम्हारे सिद्ध की जिन तुम यहाँ पठाये ।।
४३११ का० ना० प्र०

जिन गोपियों को योग अपने आप प्राप्त हो गया, उन्हें उद्धव कौन सा नवीन योग सिखा सकेंगे । योग में जितनी विशेषतायें होती हैं वे तो उन्हें स्वतः प्राप्त हैं । योगी तैल मर्दन नही करते, गोपियों के सिर में बाल कृष्ण के वियोग में रूखे हैं, तेल फुलेल डालने की ओर उनका ध्यान जाता ही नहीं है । योगी शरीर पर भस्म रमाते हैं, गोपियों का शरीर वैसे ही श्री से खण्डित हो गया है—उसकी शोभा जाती रहती है । योगी गुदड़ी धारण करते हैं, गोपियाँ भी पुराने वस्त्रों को बार-बार सिलाकर पहनती रहती हैं । योगियों के कानों में लटकती हुई मुद्रायें उनके तारक हैं,अवधि का आधार ही उनकी अधारी लकड़ी है, योगी भिक्षा माँगते हैं. ये नेत्र रूपी पात्रों को फैलाकर कृष्ण–दर्शन की भिक्षा माँगती फिरती हैं । योगी कण्ठ में सिंगी धारण करते हैं और उसे बजाते भी हैं । गोपियाँ वंशी लिए कृष्ण के गुणों का स्मरण करती हुई गान गाया करती हैं । योगियों के हाथों में दण्ड रहता है, इनके हाथों में भी बेंत है, स्वान रूपी दुःख इनसे भयभीत नहीं होता, शब्द सुनतेही इनके पास दौड़ा आता है । योगियों की तरह इनका चित्त भी उदास है और उन्हीं की भाँति ये दिनरात बन-बीथियों में घूमा करती हैं । पहले बनों में चरी के बहाने कुटुम्ब यात्रा होती थी, अब वह उन्हें रुचिकर प्रतीत नहीं होती । वह यात्रा आह्लाद जनक होती थी । अब तो दुःख के दिन व्यतीत हो रहे हैं । विरह में सभी वस्तुओं से बिराग हो गया है, भोग और युक्ति भूले भी नहीं भाती । इनकी रसना आर्त होकर गोरख शब्द का उच्चारण करती है, गोरख में श्लेष है—एक ओर उससे गोरक्षक गोपाल कृष्ण का ज्ञान होता है दूसरी ओर गो अर्थात इन्द्रियों को रख अर्थात रखो अर्थात रक्षा करो—यह आर्तवाणी जिह्वा

पर विद्यमान रहती है। व्रज में भोगी कोई है ही नहीं; सबके सब योगी हैं। फिर नवीन योग की शिक्षा कैसी ? गोपिकाओं का मोह सब बिदा हो गया है, सभी साँसारिक माया से शून्य हैं, सबने नेत्र बन्द कर लिए हैं (कृष्ण के वियोग से उन्हें कुछ भी दिखाई नहीं देता)। मुख पर मौन व्रत है, शरीर सूख गया है। वे सबके सम्पर्क को छोड़कर केवल कृष्ण में अनुरक्त हो रही हैं। उपर्युक्त पद में संयम की चर्चा प्रधान है जो योग के अन्तर्गत है। गोपिकायें भोग विलास की सामग्री से एकान्त पृथक हैं। जब यह सामग्री ही सुख के स्थान पर दुख देने लगे तब उसके प्रति किसका आकर्षण होगा। निम्नाँकित पद में इसी तथ्य का प्रतिपादन हुआ है:—

ऊधौ इतनी जाइ कहौ।
सबै बिरहनी पा लागति हैं मथुरा कान्ह रहौ।
भूलिहुँ जनि आवहुँ इहि गोकुल तपति तरनि ज्यों चन्द।
सुन्दर बदन स्याम कोमल तन, क्यों सहिहैं नँद-नन्द।
मधुकर मोर प्रबल पिक चातक, बन उपवन चढ़ि बोलत।
मनहुँ सिंह की गरज सुनत गो वच्छ दुखित तन डोलत।
आसन असन अनल विष अहि सम, भूषन विविध विहार।
जित तित फिरत दुसह द्रुम-द्रुमपति, धनुष धरे सतमार॥
तुम हौं सन्त सदा उपकारी, जानत हौ सब रीति।
सूर स्याम कौं बोलैं ब्रज, बिनु टारे यह ईति।४६६५।

अभी तक प्राकृतिक दृश्यों की दाहकता का अनुभव गोपियां ही करती थीं। संयोग समय के रस स्रावी उपादान उन्हें विष स्रावी प्रतीत होने लगे थे। वही क्यों गाय और बछड़े भी सुखद स्वरों में दुखद गर्जन का अनुभव करके शरीर से व्याकुल होने लगे थे। गोपियाँ स्वभावत: यह विचार करने लगी कि जिन वेचैनहैं कहीं कृष्ण यहाँ आ गये तोदृश्यों से वे भी उनके सदृश्य पीड़ा करने लगेंगे, अत: उन्हें गोकुल न आकर मथुरा में ही निवास करना चाहिए।

वे ऊधौ से कहती हैं—उद्धव तुम मथुरा लौट जाओ और कृष्ण से कहो कि वे गोकुल न आवें भूलकर भी न आवें, यहां चन्द्रमा सूर्य के समान तप रहा है, कृष्ण इसे सहन कर सकेंगे ? उनका शरीर कोमल है, मुख मंडल सुन्दर है, उनका अग प्रत्यग इस ताप से झुलसने लगेगा यहां जब भ्रमर, मोर, कोकिल चातक, किसी वृक्ष पर चढ़कर बोलने लगते हैं तब सब ऐसे व्यथित

हो जाते हैं जैसे सिंह की दहाड़ सुनकर कपिला गाय भयभीत हो, अथवा गोवत्स त्रस्त होने लगे। यहाँ के आसन अशन भूषण एवं विहार-केन्द्र अग्नि और सर्प के विष का रूप धारण कर चुके हैं। काम सहस्त्रों धनुष धारण कर के वृक्ष पर घूम रहा है और दुस्सह प्रतीत हो रहा है। व्रज के अन्दर जो यह मारक एवं संहारिक उत्पाद दिखाई देते हैं जब तक ये न हट जायँ तब तक कृष्ण का यहाँ आना उचित नहीं है।

गोपियाँ कहने को तो यह कह गईं, पर वे भूल गईं कि प्रकृति अपना यह संतापी रूप कृष्ण की अनुपस्थिति के कारण धारण किये है। उनके आगमन पर यह तो पुनः मंगलमय प्रतीत होने लगेंगे, परन्तु भावुकता में ऐसा ज्ञान रहता कहाँ है। यदि इस तर्कना का परित्याग करके उस भाव भूमि में हम प्रवेश कर सकें जिसमें कृष्ण की तनिक सी वेदना को भी सहन नहीं कर सकतीं तो पद का स्वारस्य सभी भावकों को अस्वादनीय जान पड़ेगा।

विरह में विगत घटनाओं का स्मरण बरबस हो आता है। विरहदग्ध प्राणी का वह अमोघ अवलम्बन है। विरहजन्य मानसिक पीड़ा इस स्मरण में कुछ देर के लिए तो दूर हो ही जाती है पर यह भी तथ्य है कि विगत घट–नाओं के स्मरण से मन पर उस समय प्रहार भी होता है जब वह स्मरण तत्कालीन सुखद अवस्था को वर्तमान कालीन दुःखद दशा के प्रतिद्वन्द्विता तथा तादाम्य में ला खड़ा करता है। मन जब तक केवल स्मरण में लीन है तब तक वह सुख की अनुभूति कर रहा है पर जैसे ही दोनों दशाओं का विरोध उप–स्थित होता है, मन व्यथित हो उठता है। स्मरण में यदि कोई विगत दुखद, प्रसंग जिसमें अपना अपराध भी सम्मिलित हो, समक्ष आ गया तो वह भी मन के दर्शन के लिए पर्याप्त है। सूर के विरह-वर्णन में इस प्रकार के प्रसंग चित्र भी उपस्थित हो गये हैं। प्रथम विशुद्ध स्मरण पक्ष को लीजिए। पद संख्या ४६६८ में गोपिकायें कहती हैं:—

यहाँ हरि जू बहु क्रीड़ा करी।
सो तो चित ते जात न टरी॥

भगवान कृष्ण ने यहाँ जो क्रीड़ायें की हैं, वे चित्त में ऐसी समा गयी हैं कि टालने से भी नहीं टलतीं। बक, सकट तृणावर्त, वृत्सासुर, वका, अघा, धेनुक, प्रलम्ब आदि का निपातन यहीं तो किया गया था। ब्रह्मा जब बछड़ों को चुरा ले गया तब भगवान को वैसे ही वत्स बना देने में पल भर का विलम्ब न लगा था। कालीदहन, वस्त्रहरण, हरि एवं हलधर का भोजन द्वारा

विप्र स्त्रियों को सुख देना, गोबर्द्धन धारण करके इन्द्र के क्रोध से हमें बचाना, वृषभासुर भौम एवं केशी का संहार करना और सबसे बढ़कर शारदी निशा में रासरचना आदि सभी प्रसंग गोपियों के स्मरण पट पर सुखद रूप में आ रहे हैं। क्रीड़ा में आंख मीचने की भी याद आ जाती है जिसे सुनकर स्वयं भी प्रेम-मग्न हो जाते हैं। उनका ज्ञान गर्व बुद्धि की गुहा में तिरोहित हो जाता है। वे ब्रज की पुनीत धरा की रजकणों में लोटने लगते हैं। गोपिकायें कभी-कभी सोचने लगती हैं कि कृष्ण हमारे ही कारण मथुरा चले गये हैं। सम्भवतया उनके मार्ग में हम बाधक रूप थीं। बाधाओं को अपने समीप कौन रखना चाहेगा। विघ्नों से दूर रहने के लिए ही श्री कृष्ण गोकुल में नहीं आते। सूर ने इन कारणों की बड़ी सुन्दर व्यंजना की है:—

यह डर बहुरि न गोकुल आये।
सुन री सखी हमारी करनी समुझि मधुपुरी छाये॥
अधरातक तें उठि सब बालक, मोहि हेरैंगे आइ।
मातु पिता मोकहुँ पठवैंगे बनै चरावन गाइ॥
सूने भवन आइ रोकेंगी दधि चोरत नवनीत।
पकरि जसोदा पै लै जैहैं नाचहु गावहु गीत॥
ग्वारिन मोहि बहुरि बाँधेगी कैतव बचन सुनाइ।
वे दुख सूर सुमिरि मन ही मन बहुरि सहै को जाइ॥ ४६५२॥

श्री कृष्ण पुनः गोकुल लौट कर नहीं आये, वे मधुपुरी में यही समझ कर निवास करने लगे हैं कि यदि वे गोकुल पहुँचे तो गोप गोपिकायें अर्द्ध रात्रि से उठकर ही उन्हें पुकारने लगेंगे। माता–पिता भी गोचरण के लिए बन में भेजेंगे। शून्य भवन में मुझे दधि और नवनीत की चोरी करते देखकर गोपिकायें पकड़ लेंगी और यशोदा के पास ले जायेंगी। मुझसे नाचने गाने के लिए कहेंगी और इधर उधर की बातों में बहलाकर अपने प्रेम–पाश में आबद्ध कर लेंगी।

यह तो कृष्ण की ओर से गोपिकाओं द्वारा कृष्ण को कष्ट पहुँचाने की बात हुयी। निम्नाँकित पद में कृष्ण और यशोदा परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। उन्हें वे घटनायें याद आती हैं जिनमें कृष्ण की रक्षा की थी, परन्तु यशोदा और नन्द द्वारा कृष्ण को कष्ट उठाना पड़ा था। दोनों अपनी भूलों पर पश्चाताप करते हुए कहते हैं:—

चूक परी हरि की सेवकाई ।
यह अपराध कहाँ लौं बरनौं कहि-कहि नन्द महर पछताई ।।
कोमल चरन कमल कंटक कुस हम उनपै बन गाय चराई ।
रञ्चक दधि के काज जसोदा बाँधे कान्ह उलूखल लाई ।।
इन्द्र प्रकोप जानि ब्रज राखे वरुन कास तै मोहि मुकराई ।
अपने तन धन लोभ कंस डर आगे कै दीन्हें दोउ भाई ।।
निकट बसत कबहूँ नहि आयो इतै मान मेरी निठराई ।

सूर अजहूँ ना तो मानत हैं प्रेम सहित करै नन्द दुहाई ।।३७८०।।

हमसे कितनी भूलें हुयी हैं, अपने अपराधों का वर्णन हम कहाँ तक करें । हरि-सेवा करने में हम चूकते गये, ऐसा सोचकर नन्द और यशोदा पश्चा-ताप कर रहे हैं । कृष्ण के चरण कमलवत कोमल थे, पर हम उन्हें कंटक कुसों से आपूर्ण कानन में गायें चराने के लिए भेजा करते थे । रञ्चक दधि या नवनीत के कारण यशोदा कृष्ण को उलूखल में बाँध देती थीं । वरुण पाश में आबद्ध मुझ नन्द को उन्हीं के कारण मुक्ति मिली थी । इन्द्र के प्रकोप से कृष्ण ने ही रक्षा की थी । कंस से भयभीत तथा शरीर और धन के लोभ से विवश नन्द ने बलराम और कृष्ण की आड़ में ही अभय प्राप्त की थी, और फिर कृष्ण थे ही कितनी दूर पर, मेरी निष्ठुरता तो देखो, मथुरा पहुँचाकर फिर मैं उनसे मिलने तक न गया । यह उनकी है जो वे अब भी प्रेमपूर्वक हम सबका स्मरण करते हैं ।

पद संख्या २७२१ में भी एक गोपी इसी प्रकार अपराधों का स्मरण करती हुई अपनी दयनीय दशा प्रकट कर रही है ।

चूक परी मोतैं मैं जानी मिलै स्याम बकसाऊँ री ।
हा-हा करि दसननि तृन धरि-धरि लोचन नीर बहाऊँ री ।।
चरन कमल गाढ़ै गहि कर सौं पुनि-पुनि सीस छुवाऊँ री ।
मुख चितवौं फिरि धरनि निहारौं ऐसे रुचि उपजाऊँ री ।।
मिलौं धाइ अकुलाइ, भुजनि भरि, उर की तपनि जनाऊँ री ।
सूर स्याम अपराध छमहुं अब यह कहि कहि जु सुनाऊँ री ।।
।।२७२१।।

सूरदास जी ने इस पद में अनुभावों का चित्रण करके गोपिका की जिस करुणापन्न दीनावस्था का अभिव्यंजन किया है वह पाठक के मन पर द्रवण-शील एवं दुखभञ्जनकारी प्रभाव डालता है । गोपिका का हा-हा खाना, दातों

में तृण रखना, नेत्रों से अश्रु बहाना, हाथों से कस कर चरण कमलों को पकड़ लेना, उन पर बार-बार सिर रखना, मुख की ओर देखकर फिर पृथ्वी की ओर आँखें कर लेना, दौड़कर अकुलाते हुए मिलना, भुजाओं में भर लेना और मेरे अपराध क्षमा करो, क्षमा करो, ऐसे आर्तस्वर से निवेदन करना, सूर के हृदय में भरे उन भावों की झलक मात्र हैं जो सूर सागर के निर्माण में अतुल उपादान कार्य कर रहे हैं। इसी प्रकार की विनय हृदय के सन्ताप को दूर करती है।

पदसंख्या २७२४ में कृष्ण के मिल जाने पर जिस उल्लास की झाँकी कल्पित की जा सकती है उसका अतीव विशद वर्णन उपलब्ध होता है। नीचे कुछ पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

अबकै जो पिउ पाऊँ तो हिरदै माँहि दुराऊँ।
जो पाऊँ तो मंगल गाऊँ मोतियन चौक पुराऊँ॥
रस करि नाचौं गाऊँ, बजाऊँ चन्दन भवन लिपाऊँ॥

कृष्ण के स्मरण में गोपिकायें इतनी तल्लीन हैं कि उन्हें कृष्ण उनके समीप ही दिखाई पड़ते हैं। वे कहती हैं:—

सखी री मो मन धोखे जात।
ऊधौ कहत रहत हरि मधुपुर गत आगत न थकात॥
इत देखौं तौ आगे मधुपुर मत न्याय सतरात।
फिर चाहौं तौ प्राननाथ उत, सुनत कथा मुसकात॥
हरि साँचे ज्ञानी सब झूठे, जे निरगुन जस गात।
सूरदास जेहि सब जग डहक्यो ते उनकौ डहकात॥

क्या कहीं यह धोखा तो नहीं है ? उद्धव कहते हैं कि कृष्ण मथुरा में रहते हैं, पर मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण गोकुल से मथुरा और मथुरा से गोकुल जाने आने में किंचित भी श्रम का अनुभव नहीं करते। इधर जब सामने की ओर देखती हूँ तो ऊद्धव खड़े दिखाई देते हैं। और ज्ञान उन्मत्त तर्क वितर्क पूर्वक तनकर खड़े दिखाई देते हैं, पर जब लौटकर देखती हूँ तो उधर प्राणनाथ भगवान कृष्ण खड़े दिखाई देते हैं जो हम लोगों की कहानी सुना रहे हैं और हँस रहे हैं।

कृष्ण-वियोग में सभी गोपिकायें तड़प रही हैं। भुजायें उनके गले से

लिपट जाना चाहती हैं। श्रवण उनके शब्द सुनने को आतुर हैं। हृदय उनके साथ बन-विहार की भावना कर रहा है। सगुन मनाने के लिए वे काक को संकेतो से उड़ाते हैं। कृष्ण की अनुपस्थिति में दिन रात किसी को चैन नहीं पड़ता। काल का एक-एक पल एक युग के समान व्यतीत हो रहा है। बातें करने वाले तो बहुत हैं पर ऐसा कोई दिखाई नहीं देता तो उन्हें व्रजनाथ कृष्ण से मिला दें। यदि कृष्ण एक बार यहाँ आ जाते तो व्रजवासी उनके दर्शन के लिए तरस रहे हैं, उन्हें देखकर सुखी हो जाते। उनका मुरली नाद शारीरिक पीड़ा को दूर कर देता है। उनके अमृत सदृश मधुर बचन वियोगियों को धैर्य प्रदान करते। व्रजवासियों की चिन्ता दूर होती और वे कृष्ण दर्शन प्राप्त कर निज जन्म को सफल बनाते।

सूर ने विरह की प्रशंसा में उसके गौरव को उच्चता की सीमा तक पहुँचा दिया है। पद संख्या ४६७४ में वे कहते हैं:—

ऊधो विरही प्रेम करै।
ज्यौं बिनु पुट पट गहत न रंग कौ रंग न रसै परै॥
ज्यों घर दहै बीज अंकुर गिरि तौ सत फरनि फरै।
ज्यौं फट अनल दहत तन अपनौ पुनि पय अमी भरै॥
ज्यौं रन सूर सहै सम्मुख तौ रवि रथेहु अरै।
सूर गुपाल प्रेम पथ-चलिकरि क्यौं दुख-सुखनि अरै॥

जैसे पट बिनापुट के रंग नहीं पकड़ता। रंग डालो तो भी रंग उसमें नहीं भिदता। बीज पृथ्वी में गिरकर जब गल जाता है तभी वह अंकुरित होकर अनेक फल धारण करता है। कच्चा घड़ा जब अग्नि में अपने शरीर को पका लेता है तभी अमृतमय जल के धारण करने योग्य बनता है, जैसे शूर वीर रण में सम्मुख बाण प्रहार करता हुआ रवि रथ पर चढ़ने और स्वर्ग जाने का अधिकार प्राप्त करता है उसी प्रकार विरह-ज्वाला में जलकर सुपक्वावस्था को प्राप्त वियोगी ही प्रेम-रूप प्रभु को प्राप्त करने की योग्यता रखता है।

दार्शनिकों ने मन की परिभाषा करते हुए लिखा है वह एक समय में एक ही बात पकड़ पाता है। गोपियों का मन ऐसा जान पड़ता है सब समयों के लिए एक कृष्ण में रम गया हो। साधना-क्षेत्र में मन की यह सर्वोच्च कोटि की सिद्धि है जिसमें मन लक्ष्य के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी गमन नहीं करता। लक्ष्य बद्धता स्वयं एक बरदान है। गोपियों के इस बरदान से विभूषित है:—

(१) मधुकर ह्यां नाहीं मन मेरो ।
गयो जो संग नन्द नन्दन के बहुरि न कीन्हों फेरो ॥
उन नैननि मुसकान मोल लै कियो परायो चेरो ।
जाके हाथ परयो ताही को बिसरयो बास बसेरयो ।४३४१।

(२) ऊधो मन तौ एकहि आहि ।
सो तौ हरि लै संग सिधारे जोग सिखावत काहि ॥४६४३॥

(३) ऊधो मन न भये दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस ॥
इन्द्री सिथिल भई केसव बिन ज्यों देही बिनु सीस ।
आशा लागि रहत तन स्वासा जीवहि कोटि बरीस ।
तुम तो सखा श्याम सुन्दर के, सकल जोग के ईस ।
सूर हमारे नन्द नन्दन बिनु और नहीं जगदीस ॥४३४४॥

जो मन कृष्ण में अनुरक्त हो गया, उनके साथ एक हो गया, वह अब किसी अन्य का नहीं रहा । सभी सम्पर्कों से बिहीन होकर वह एक में तल्लीन है । उद्धव, एक क्या अनेक स्वामियों के सेवक बनें । अनेक देवी देवताओं के पीछे घूमते फिरें, विविध प्रकार की योग सिद्धियों के चक्र में पड़े, पर हमारे लिए तो नन्द नन्दन कृष्ण ही सब कुछ हैं,वही हमारे है,अन्य किसी भी ईस में हमारी इष्टता नहीं है । इस मन पर श्याम रंग ऐसा चढ़ा है कि वह आपका उपदेश रूपी साबुन से धोने पर नहीं छूट सकता । इस हृदय में माखन के चोर कृष्ण विंधा पड़ा है । वह अन्दर पहुँच कर तिरछा भी हो गया है । अब किसी के निकाले निकल नहीं सकता है। कृष्ण की इस त्रिभंगी मुद्रा का वर्णन हम भारतीय साधना और सूर साहित्य में कर आये हैं । इस मुद्रा में सृष्टि का रूप भी प्रत्यक्ष हो उठा है । प्रभु का विराट रूप इसी प्रकार है और प्रकृति अदिति के पश्चात जो अनुमति रूप आता है वह भी इसी प्रकार का है । ओंकार की मूलाकृति भी इसी प्रकार की है ।

गोपियों के मन में, अब किसी के मन में अवकाश नहीं है। नन्द नन्दन के रहते वे अब अन्य किसी को हृदय में दे भी कैसे सकती हैं । चलते हुए देखते हुए दिन में जागरण करते हुए सोते समय तथा स्वप्नावस्था में हृदय में उसी एक का ध्यान रहता है । क्षण भर के लिये भी वह इधर से उधर नहीं होता । मन कृष्ण–प्रेम से परिपूर्ण हो रहा है । उसे चाहे कितनी कहानियाँ सुनाइये, लोक-लाभ दिखाइये, पर जिस मुस्कान ने जिसे मोल ले लिया है, उसका हो गया अन्य का नहीं बन सकता ।

विरह में, जैसा लिख चुके हैं संयोग की सुखद काल-वस्तुयें दुखदायी बन जाती हैं, जो चन्द्रमा और चन्दन संयोग में शीतल प्रतीत होते थे कोकिल का जो शब्द रसीला जान पड़ता था जो समीर सुखद एवं सुरभित था, जिस कंचुकि चीर और हार से शोभा उद्दीप्त होती थी, जो शय्या गृह और पुष्प माला अविराम एवं आकर्षक रूप धारण किये थी, आज कृष्ण-विरह में सबने विपरीत आचरण धारण कर लिया है। शीतलता तपन में परिणित हो गयी है। यह वैपरीत्य मानस–सापेक्ष है। मन का अभाव बाह्य शरीर पर भी पड़ता है। गोपियाँ क्या ! सभी के विषय में यह सत्य है।

विरह–व्यथा उस समय तीव्र हो उठती है, जब वियोगी यह अनुभव करने लगे कि उसकी तपस्या के फल को किसी अन्य ने प्राप्त कर लिया है, अन्य ने लूट लिया है। इस मानसिक स्थिति को व्रजवासी परेखों कहा करते हैं। सूर लिखते हैं:—

मेरै जिय यहै परेखों आवै।
सरबस लूटि हमारौ लीन्हों राज कूबरी पावै।
तापै एक सुनोरी अजगुत, लिखि लिखि जोग पठावै।
सूर कुटिल कुबिजा के हित कौं निर्गुन वेद सुनावै ।।४२७६।।

निर्गुण और सगुण का विवाद सृष्टि-रचना के साथ ही प्रारम्भ हो जाता है। सगुण साकार एवं स्थूल बनता है और साकार परिवर्तन करता हुआ सगुण में से छनकर निर्गुण बन जाता है। योग इन दोनों के मध्य में है। इसके एक ओर उद्योग और दूसरी ओर प्रयोग है। जब निर्गुण से वियोग होता है तो उद्योग साकार और स्थूल में योग करवा देता है। जब स्थूल से वियोग होता है तो स्वभावतया मानस–प्रवृत्ति निर्गुण की ओर हो जाता है। वेद आध्यात्मिक विद्या के केन्द्र हैं और प्रभु को अकायम, अपाप, विद्धभ आदि कहकर पुकारते हैं। यह ब्रह्मा का निषेधात्मक वर्णन है। उसका भावात्मक वर्णन कवि मनीसी स्वयंभू आदि शब्दों द्वारा किया जाता है। गीता वेद को त्रैगुणी विषय वाला बताती है, परन्तु सूर यहाँ वेद पर निर्गुण वाद का आरोप कर रहे हैं और कहते हैं कि उद्धव कुटिल कुब्जा–हित- हेतु हमें निर्गुण का पाठ पढ़ा रहे हैं। सगुण को हमसे छुड़ाकर वे कुब्जा को दे रहे हैं और निर्गुण जिसमें उसी प्रकार की उपलब्धि की सूचना हमें नहीं दे रहे हैं।

यह भी आश्चर्य की बात है कि कृष्ण कुब्जा के साथ संयोग-सुख का अनुभव करें और हमें योग के उद्योग की शिक्षा देकर संयोग के लिए लाल झन्डी दिखाते रहें। 'परेखे' जैसी पश्चाताप मिश्रित भावना का एक चित्र और देखिये:—

ऊधौ आवे यह परेखौ।
जब बारे तब आस बड़े की बड़े भये यह देखौ॥
जोग जग्य तप नेम दान ब्रत यहै करत तब जात।
कबहूँ बालक बढ़ै कुसल सों कठिन मोह की बात॥
करी जो प्रकट कपट पिक कीरति, आपु काज लगि तीर।
काज सरै उड़ि मिलै आपु कुल कहा वायस की पीर॥
जँह-जँह रहैं राज करौ तहँ-तहँ लेहु कोटि सिर भार।
यहै असीस सूर प्रभु सों कहि न्हात खसै जनि बार।४२७०।

तपस्वी तप करता है। अपने बालफल को पाकर उसकी आशायें वर्द्धमान होती हैं, वह और अधिक तप करने लगता है। योग, यज्ञ, नियम, दान, वृत सबके अनुष्ठान में उसकी यही कामना रहती है कि उसका यह बालफल सकुलल बढ़ता चले। मोह कितना कठोर है, यह न जाने क्या, क्या नहीं सहन कराता है। वियोग में कालान्तर तथा स्थानान्तर दोनों होते हैं, पर भावान्तर इनमें भी अधिक होता है, यही तो वियोगी की वेदना को तीक्ष्णता देता है। कोकिला के बच्चे काक द्वारा पालित होते हैं, पर बड़े होने पर अपने कुल में जा मिलते हैं। काक की पीड़ा को वे क्या समझेंगे, पर हायरे मोह तू पीड़ा देकर भी पालित-पोषित की कुशल कामना हृदय में भरता है और आशीर्वाद दिलाता हुआ (न्हात खसै जनि बार)जैसी उक्तियों से पीड़ित हृदय की विशालता को भी व्यक्त करता है।

निर्गुणवाद का निराकरण सूर ने निम्नांकित पदों में अतीव चातुर्य पूर्ण उक्ति द्वारा किया है:—

मोहन मांग्यो अपनो रूप।
यहि व्रज बसत अच्यै तुम बैठीं तादिन तहाँ निरूप॥
मेरो मन मेरो अलि लोचन लै जो जये धुप धूप।
ताऊ पर तुम फर लैन पठाये मनौ धारि कर सूप॥
अपनो काज सँवारि सूर मुनि हमें बतावत कूप।
लेवा देही बराबर में है कौन रंक को भूप॥ ४३८८ ॥

गोपिकायें कहती हैं:—राधा, मोहन के रूप को तो तू पी चुकी है अतः मथुरा में कृष्ण रूप-विहीन हो चुके हैं। सचमुच उद्धव उसी निरूप को रूपवान बनाने के लिये तेरे अन्दर से उस रूप को निकालने आये हैं, क्योंकि रूप ही तो उस रूपविहीन को रूपवान कर सकेगा। गोकुल निवासी निर्गुण को अपना कर उस रूप से वंचित हैं और मथुरा का निर्गुण उस रूप का निरूपण तथा आरोपण करने लगे, पर उद्धव को कदाचित यह ज्ञात नहीं है कि जहाँ हमने रूप लिया है वहाँ अपने मन तथा नेत्रों को अर्पण किया है। अतः लेन देन में समता है। यहाँ न कोई रंक है न कोई राजा, न कोई दाता है न कोई भिक्षुक। दोनों समान वेदी पर खड़े हैं अतः आपका रूप लेना है तो हमारे मानस तथ नेत्रों को लौटाइये। इनके लौटाने पर ग्राही लौट आवेंगे और जब ग्राही हमारे पास आ गये तो रूप ज्यों का त्यों हमारे पास रहेगा। आप अपने निर्गुण को सहेजिये, हमें उसकी आवश्यकता नहीं है।

स्मरण में पश्चाताप की भावना भी संलग्न रहती है। राधा उद्धव से कहती है:—

हरि बिछुरन की सूल न जाइ।
बलि-बलि जाऊँ मुखारविन्द की वह मूरति चित्त रही समाइ।
एक समै बृन्दावन महियाँ गहि अंचल मेरी लाज छुड़ाइ।
कबहुंक रहसि देत आलिंगन कबहुंक दौरि बहोरत गाइ॥
वै दिन ऊधौ विसरत नाहीं अंबर हो जमुन–तट जाइ।
सूरदास -स्वामी गुन सागर, सुमिरि सुमिरि राधे पछिताइ॥
॥ ४३८७ ॥

उद्धव क्या वे दिन भी कभी भूल सकते हैं जब कृष्ण के मुखारविन्द एवं अनिन्द्य छबि इन आंखों के आगे विराजमान रहती थी। कभी कृष्ण आलिंगन देते हुये हमारे साथ क्रीड़ा करते थे कभी दौड़कर गायों को लौटाते थे और कभी यमुना तट पर हरित वर्ण अमराइयों में बैठकर आमोद-प्रमोद में मग्न होते थे। निर्गुण नहीं वे तो गुणों के सागर थे। उनके वियोग से उत्पन्न व्यथा बराबर बनी रहती है और जब-जब उनके गुणों का स्मारक आता है तब पश्चाताप के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लगता।

यदि मैं इस पश्चाताप को खो बैठूं तो सम्भव है इस पीड़ा का एक निदान मिल सके, पर यह भी सम्भव नहीं हो पाता।

जदपि मैं बहुतै जतन करे ।
तदपि मधुप हरि-प्रिया जानि के काहू न प्रान हरे ।।
सौरभ जुत सुमननि लै निजकर सतत सेज धरे ।
सन्मुख सहति सरद ससि सजनी ताहू न अंग जरै ।।
मधुकर, मोर, कोकिला, चातक सुनि-सुनि स्रवन भरै ।
सादर ह्वै निरखति रति पति दृग नैकु न पलक परै ।।
निसि दिन रहति नन्द नन्दन कौं उर तैं छिन न टरै ।
अति आतुर गुन सहित चमू सजि अंगनि सर संचरे ।।
जानत नहीं कौन गुन इहि तन, जातै सब निडरै ।
सूरदास सकुचनि श्रीपति की सुभटनि बल विसरै ।।४३८५।।

मैंने अनेक यत्न किये परन्तु वे सभी निष्फल सिद्ध हुये । जितने भी मारक एवं संहारक साधन हैं सब मुझको हरि की प्रिया समझकर दूर से ही चम्पत हो गये, कोई भी निकट नहीं आया । मेरे हरण का साहस किसी ने नहीं किया । सौरभ-सम्पन्न सुमनों को मैं शैय्या पर अनवरत रूप से सजाती रही, शरद-कालीन चन्द्रमा के सामने मैंने अपने को उन्मुक्त कर दिया पर इनमें से कोई भी मेरे अंगों को न जला सका (राधा इन्हें बिनु गुपाल बैरिन भई कुन्जै टेक वाले पद में इनको भानु के समान भूजने वाला कह चुकी है) मधुकर, मयूर, कोकिला और चातक के स्वर वाण के समान श्रवणों में पड़ते हैं परन्तु न जाने क्या सोचकर वे भी आकर हट जाते हैं । इन सबकी सेना अपार है पर कदाचित दिन रात जो मैं नन्द नन्दन का नाम रटती रहती हूं उसके संकोच में पड़कर ये सुभट भी जलने का बाना भूल गये । मारण का निदारुण बाण मेरे ऊपर न चला सके ।

राधा की बिरह जन्य व्याकुलता एवं कृष्ण तन्मयता का वर्णन सूर के निम्नांकित पदों में व्याधि, उन्माद एवं तन्मयता का अद्भुत चित्र परि-लक्षित हो रहा है ।

(१) सुनहु श्याम बात और कोऊ क्यौं समुझाई कहै ।
दुहुदिसि को अति बिरह बिरहिनी कैसे के जू सहै ।।
जब राधा तबही मुख माधौ, माधौ रटत रहैं ।
जब माधौ ह्वै जात सकल तन राधा-विरह दहै ।।
उभै अग्र दव दारु कीट ज्यौं सीतलताहि चहै ।
सूरदास अति विकल बिरहिनी कैसेहु सुख न लहै ।।४७२४।।

(२) चित है सुनौ स्याम प्रवीन ।
हरि तुम्हरे विरह राधा, मैं जू देखी छीन ।।
तज्यौ तेल तमोल भूषन, अंग वसन मलीन ।
कंकना कर रहत नाहीं टाँड़ भुज गहि लीन ।।
जब संदेसौ कहनि सुन्दरि गवन मो तन कीन ।
छुटी छुद्रावलि चरन अरुझी गिरी बलहीन ।।
कंठ बचन न बोलि आवै, हृदय परिहस भीन ।
नैन जल भरि रोह दीनौ, ग्रसित आपद दीन ।।
उठी बहुरि सँभारि भट ज्यौं परम साहस कीन ।
सूर हरि के दरस कारन, रही आसा लीन ।। ४७२५ ।।

व्याधि में शरीर की क्षीणता, मलीनता आदि परिमाण रूप में देखी जाती है । कृशता एवं दौर्बल्य के कारण पैर लड़खड़ा जाते हैं, उलझ जाते हैं । और व्यक्ति गिर जाता है, उसके मुख बचनों की मन्दता प्रकट होने लगती है । कंठ अवरुद्ध हो जाता है आंखें बैठ जाती हैं । केवल मिलन की आशा उसमें बल का संचार करती रहती है, आभूषण धारण तथा शरीर सज्जा के सभी साधन विस्मृत होते जाते हैं । उन्माद में व्यक्ति अपने आप में नहीं रहता । तन्मयता में प्रिय एवं प्रेमी दोनों का रूप सिमट कर एक समवसित हो जाता है । विद्यापति ने भी इसी दशा का चित्रण किया है । सूर कहते हैं राधा जब माधव-माधव रटती है तब माधव में इतनी तल्लीन हो जाती है कि वह स्वयं माधव रूप धारण कर लेती है । उस रूप में राधा–राधा रटने लगती है । एक पक्ष में वह अपने विरह से व्यथित है तो दूसरे पक्ष में माधव के विरह में व्याकुल है । दोनों दिशाओं के विरह-क्लेश को वह अपने ऊपर अकेली ही सहन कर रही है । जैसे लड़की के दोनों छोरों पर दावाग्नि सुलग रही हो और बीच में पड़ा हुआ बेचारा कीट दोनों ओर की ज्वाला में झुलस रहा हो । राधा की ऐसी ही दशा है ।

विरह-कातरा, विषण्ण हृदया राधा के कई मर्मस्पर्शी विरह-चित्र सूर अपनी कल्पना की तूलिका से अंकित किये हैं । यथा:—

भरि-भरि लेत ऊरध स्वास ।
साँवरे ब्रजनाथ तुम बिन, दुखित मनसिज त्रास ।।
अमित पीर अधीर डोलति, सुमिरि नैन विलास ।
तेह सुख दुख भए दारुन, जे किए रस रास ।।

> निगम गुरु जन लोग निदरत जग करत उपहास ।।
> सूर तुम बिनु सकल विरहिन मरति दरसन प्यास ।।४७२८।।

अपने नेत्रों के लिए, बिलास रूप, आनन्द रूप, भगवान कृष्ण का राधा अमित-पीड़ा अनुभव करने लगती है अधीर हो जाती है । काम का भय उसे त्रस्त एवं दुखी करता है । स्वासा नीचे नहीं जाती, ऊपर उठने लगती है। स्वासा की उर्ध्व गति में जब राधा आहें भरने लगती है तो वैदिक गुरुजन उसे अच्छा नहीं समझते, लोक उपहास करने लगता है और रसरास के दिनों में उसने जिस सुख का अनुभव किया था, वह दारुण दुख में परिणित हो जाता है । कृष्ण-दर्शन-पिपासा से व्याकुल विरहणी राधा कृष्ण के विरह में कितनी विकल है,इसे कोई कैसे कहे ।

आहों के साथ राधा के नेत्रों से अनवरत अश्रु-प्रवाह होता रहता है । व्रजनाथ के बिना विरह-कष्ट से उसके धैर्य का बाँध टूट जाता है । चन्दन आदि का उपचार विरह-ताप का शमन नहीं कर पाता । साँग रूपक का आश्रय लेकर सूर लिखते है:—

> तुम्हरे विरह ब्रजनाथ राधिका नैननि नदी बढ़ी ।
> लोने जात निमेष कुल दोउ, एते मान चढ़ी ।।
> चलि न सकत गोलक नौका लौं सखि पलक बल वोरति ।
> ऊर्ध्व साँस समीर तरंगनि, तेज तिलक तरु तोरति ।।
> कज्जल कीच कुचील किए तट अम्बर अधर कपोल ।
> रहे पथिक जु जहाँ सु तहाँ थकि-हस्त चरन मुख बोल ।।
> नाहीं और उपाय रमापति बिनु दरसन क्यों जीजै ।
> आसु सलिल बूड़त सब गोकुल सूर स्वकर गहि लीजै ।। ४७३१।।

राधा का अश्रु-प्रवाह बढ़ी हुई सरिता का अश्रुप्रवाह है । प्रवाह चढ़ता ही जाता है और जैसे नदी अपने चढ़ाव में किनारों को अतिक्रांत कर जाती है अथवा बहा ले जाती है उसी प्रकार अश्रुप्रवाह में दोनों नवोन्मेष डूब गये या बहे चले जा रहे हैं । चढ़ी हुई नदी में नौका नहीं चल सकती है, अश्रु-प्रवाह में दोनों गोलक स्थिर हैं । सीमारूपी पलकों को भी यह नदी बल पूर्वक डुबो रही हैं । राधा के ऊर्ध्व स्वासा ही समीर है जिससे तरंगे पैदा होती हैं । जो नासिका के ऊर्ध्व भाग पर लगे हुए तेजस्वी तिलक अथवा आंख के तेज तिल रूपी वृक्ष को तोड़ देती है । इस प्रवाह ने कज्जल रूपी कीच से

तटबर्ती वस्त्र, अधर, कपोल सबको मलीन कर दिया है। हस्त चरण और मुख के बचन पथिक के रूप में जहाँ के तहाँ थके से खड़े हैं। कृष्ण दर्शन के बिना इनके उद्धार का और कोई उपाय नही है। सबका जीवन आपत्ति में ग्रसित है। अश्रुओं का यह प्रवाह समस्त गोकुल को डुबो रहा है। अब तो श्रीकृष्ण ही अपने हाथ का आलम्बन देकर इसे बचा सकते हैं।

चित्र लिखित पुत्रिका की भांति अकेली द्वार पर खड़ी राधा ऊर्ध्व स्वास ले रही है। उसकी दृष्टि कृष्ण के आगमन की प्रतीक्षा में पथरा गई है। कितना भी समझाओ चैतन्य करने के उपाय करो पर उसे चेत नहीं आता। शरीर की समस्त सुध बुध विस्मृत हो रही है। कृष्ण-प्रेम में आवद्ध राधा इतनी अचेत है कि कहीं उसका कंकन जा रहा है, कहीं उसकी मुद्रिका जा रही है; कहीं टाड़ या अंगद खिसक रहा है, कहीं रेशमी वस्त्र सरका जा रहा है। इस अचेतावस्था में आँखों से टपक-टपक कर आँसू वक्षस्थल पर ऐसे गिर रहे हैं मानो कमल चन्द्रमा के डर से महादेव को गिन गिनकर मोती प्रदान कर रहा हो।

राधा एकदम अचेत है। हृदय में स्पन्दन तो है पर चैतन्य नहीं। सखियां उसे जीवित रखने का प्रयत्न करती हैं। जब वे किसी से वार्तालाप करती हैं, तो संकेतों के द्वारा सूचना देती हैं अथवा नखों से किसलयों पर लिखकर इंगित करती हैं जिससे उनके शब्द राधा के श्रवणों का स्पर्श न कर सके। हाथ के कंकड़ से कोकिला को उड़ाती है,मुख से उसका नाम नहीं लेती, रात्रि में कहीं चन्द्र की किरणें राधिका को व्यथित न करें इसीलिए जालियों अथवा गवाक्षों में वस्त्रों को बनाकर सी दिया गया है। किसी भी दिशा में शीतल समीर आकर राधा को कष्ट न पहुँचा सके अतः उसे सदैव अंचल की ओट में रखती है। मृगमद (कस्तूरी) और मलय (चन्दन) के स्पर्श से राधा का शरीर ऐसा तड़पने लगता है, जैसे भयंकर विष का पान कर लिया है।

राधा ही नहीं कृष्ण-विरह में समग्र व्रज व्याकुल है। गोपियाँ, ग्वाले, गायें, गोवत्स सब के सब शरीर से कृश और मलीन मुख हो रहे हैं। वे ऐसे दीन हैं जैसे शिशिर कालीन पाले से मारे हुए बिना पत्तों के कमल दिखाई देते हैं। यदि दूर देश से कोई पथिक आता है तो उठकर उससे कृष्ण की कुशल पूंछने लगती हैं। अपने हाथ उसके चरणों में लिपटाकर प्रेमातुर हृदय लिए हुए उसे आगे नहीं बढ़ने देते। पिक और चातक उनके पूंछने के

डर से बन में निवास नहीं करते, काक बलि का भाग नहीं ले पाता और सन्देश पूंछे जाने के भय से कोई पथिक ब्रज के मार्ग पर पैर नहीं रखता।

ब्रजस्थली तथा ब्रजवासियों के हृदय में नन्दनन्दन कृष्ण का अनुराग जिस दृढ़ता के साथ हुआ है वह एक व्रती एवं दीक्षित साधक की निष्ठा का परिचायक है। हाड़िल पक्षी जैसे अपने पंजो में तिनका दबाये रहता है अथवा जैसे थका हुआ व्यक्ति लाठी का सहारा लेकर चलता है, लकड़ी के अतिरिक्त दोनों के लिए अन्य कोई गति ही नहीं है उसी प्रकार ब्रजवासियों ने मन कर्म और बचन से नन्दनन्दन कृष्ण का आश्रय लिया है। अन्य साधन उन्हें कड़ुवी ककड़ी के समान कटु जान पड़ते हैं। जिनके मन भ्रान्त हैं, केन्द्रस्थ अथवा स्थिर नहीं हैं वे अन्य साधनों में भटकते हैं पर जिन्होंने अटूट लग्न से प्रभु को पकड़ लिया है वे अन्यत्र कहीं भी अवलम्बन के लिए भटकते नहीं फिरेंगे। श्रुति भगवती कहती है—

आत्वारम्भम् न जिव्रयो ररम्भा शव सस्पते—
उष्मसि वा सधस्क आ।

वृद्धपुरुष जैसे डण्डे के सहारे चलता है वैसे ही हे मेरे प्रभु मैंने तुम्हारा सहारा पकड़ा है। अब मैं चाहता हूँ कि तुम सदैव मेरे सामने ही बने रहो। गोपियों और गोपों की यही तो एकमात्र आकांक्षा थी।

संयोग में वियोग

सूर के राधा और कृष्ण जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं, यह तथ्य श्रीमद्भागवत तथा सूरसागर दोनों ही ग्रन्थों में अत्यन्त स्पष्ट है। दोनों सुपुत्रा और सखा हैं। दोनों एक-दूसरे के आपि अर्थात अपने हैं। यह नित्य सम्बन्ध है। जीवात्मा कर्म विपाकवश इसका सम्बन्ध भूल जाता है। स्वधा के स्वाद से गृहीत हुआ यह कभी निम्न और कभी उच्च योनियों में भटकने लगता है। आपत्तियों के थपेड़े जब इसे चिन्तामग्न करते हैं तब इसे अपने सच्चे सखा की याद आती है। यह याद भी क्षणिक होती है। जब दीक्षित होकर श्रद्धा पूर्वक यह व्रत एवं तप से संलग्न होता है तब कहीं स्मरण स्थाई हो पाता है। जीवात्मा का अन्तर्यामी परमात्मा स्वयं सविता है, प्रेरक है, उसकी प्रेरणा भी जीवात्मा को उद्बुद्ध करती रहती है।

सूरसागर में मान के बहाने संयोग ने इसी प्रकार के वियोग भाव को

चित्रित किया गया है। राधा और कृष्ण अथवा कृष्ण अथवा जीव और ईश्वर काल अथवा देश दोनों ही दृष्टियों से एकत्र हैं परन्तु मान का भाव उन्हें एक दूसरे से पृथक कर देता है, तू यहां वे वहाँ बैठे, रहत एकहि ठौर। ३४३१। दोनों सधा होते हुए भी दूर-दर—एक यहां तो दूसरा वहाँ—नेदिष्ठ होते हुए भी दूरस्थ—इस पार्थक्य की भी व्याख्या अपेक्षित है। दोनों का सम्बन्ध और प्रेम पुरातन है।

समुझि री नाहिन नई सगाई।
सुनु राधिके तोहि माघौ सो प्रीति सदा बनि आई।

× × ×

प्रकृति पुरुष श्रीपति सीतापति अनुक्रम कथा सुनाई।
सूर दृवी रस रीति स्याम सो वे व्रज बसि विसराई॥
।३४३४।

इन पंक्तियों में प्रकृति और पुरुष अथवा श्री और बिष्णु अथवा सीता और राम शाश्वत सम्बन्ध पर जो प्रकाश पड़ता है वह व्याख्या की अपेक्षा नहीं करता। एक सखी राधा से कहती है।

(१) तोहि स्याम हम कहा दिखावैं।
तुमते न्यारे रहत कहूँ ये नेकु नहीं विसरावैं॥
एक जीव देही द्वै राँची यह कहि कहि जु सुनावै।
उनकी पटतर तुमसो दीजै तुम पटतर वे पावैं॥
अमृत कहा अमृत गुण केरे सो हम कहा बतावैं।
सूरदास गूँगे को गुरु ज्यों बूझति कहा बुझावैं॥
।२६८४।

तुम अन्तर-अन्तर कह भाखति एक प्राण द्वै देह॥२२३२॥

राधा हम तुझे स्याम के दर्शन कैसे करावें, वे तो तुमसे कभी पृथक होते ही नहीं और न कभी वे तुम्हें तनिक विस्मृत भी करते हैं। तुम दोनों एक ही आत्मा हो केवल अनुरक्ति दो शरीरों में है। (एक की पिण्ड में तो दूसरे की ब्रह्माण्ड में) दोनों एक दूसरे के समान हैं। उसे अमृत कहने से अमृत के गुण प्रकट हो जाते हैं वैसे ही पुरुष कहने से उसकी प्रकृति प्रकट हो जाती है, पर गूँगे के गुण के समान इस तथ्य का प्रतिपादन करना अथवा समझाना कठिन

है। जैसे छाया शरीर के साथ ही रहती है वैसे ही प्रकृति पुरुष के साथ ही है। दोनों का यह प्रेम सम्बन्ध अवर्ण्य है (ज्यों संगहि संग छांह देह बस प्रेम कह्यो नहिं जाई ॥२६८७॥)

राधा हरि आधा-आधा तनु एकै ह्वै द्वै व्रज में अवतारि ॥
।२३११।

राधा और कृष्ण दोनों एक ही हैं अथवा एक ही शरीर के दो अर्द्ध भाग हैं। दोनों का सम्बन्ध कई रूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रकृति और पुरुष के द्वारा पति और पत्नी के सम्बन्ध को अभिव्यक्ति दी गई है। मान के दूर होने पर ह्लादिनी शक्ति का आविर्भाव होता है और उसी समय भगवान के साथ अपने पुरातन प्रेम सम्बन्ध को जान कर जीवात्मा आनन्दमय बनता है–

तब नागरि मन हरषि भई,
नेह पुरातन जानि स्याम को अति आनन्द मई ॥
प्रकृति पुरुष नारी में वे पति काहे भूलि गई।
जन्म-जन्म जुग-जुग यह लीला प्यारी जान लई ॥
।२३९६।

(२) ब्रजहि बसै आपुहि विसरायौ।
प्रकृति पुरुष एकहि करि जानहु बातनि भेद करायो ॥
जल थल जहाँ रहौं तुम बिनु वेद उपनिषद गायौ।
द्वै-तन जीव एक हम दोऊ सुख कारन उपजायो ॥
ब्रह्म-रूप द्वितिया नहिं कोउ तब मन तिया जनायो।
सूर स्याम-मुख देखि अलप हँसि आनंद पुंज बढ़ायो ॥
। २३०५ ।

व्रज वस्तुतः गोकुल है। अन्य स्थान भी व्रज के ही अन्तर्गत है, पर व्रज में जो महत्व गोकुल तथा वृन्दावन का है वह अन्य किसी का नहीं है। गोकुल भी स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण तीन प्रकार का है। कारण रूप गोकुल में गौरी इन्द्रियाँ मधुपान करती हुयी अपने अतिपति आत्मा के साथ एक होकर रहती हैं। उस समय वे स्वराज्य में बसती हैं। सूक्ष्म गोकुल में गोपीरूप इन्द्रियों की भिन्न रूपता प्रकट हो उठती है और स्थूल गोकुल में तो उनकी अंग भंगिमा मयी लीला मुखरित हो जाती है। व्रज के अथवा गोकुल के इन दो परवर्ती रूपों में इन्द्रियाँ अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाती हैं। अपने मूल स्वरूप

को भूलना ही पुरुष अथवा आत्मा का भूल जाना है। यद्यपि दोनों एक दूसरे के बिना नहीं रह सकते हैं। जहाँ आत्मा है वहाँ उसकी शक्ति अवश्य रहेगी। जहाँ इन्द्र है वहाँ उसकी इन्द्रियाँ उससे पृथक रह ही नहीं सकतीं। एक तत्व के रहते हुये द्वैत भाव को सत्ता प्राप्त हो नहीं सकती, परन्तु व्रज तो गोष्ठ है गोरूप इन्द्रियों की महत्ता वहाँ स्थापित होनी ही चाहिए। सूर ने इसीलिए बड़े पते की बात लिखी है:—

व्रज बसे आपुहि विसरायौ।

अन्य गोपियों क्या ह्लादिनी शक्ति राधा तक मानकर के प्रिय से वियोग का अनुभव करती है। इस दशा में सूर ने श्याम को भी विरह भावना से व्याकुल कर दिया है:—

राधै तै अति मान करयौ,
यह कहि हरि पछितात मनहिं मन पूरब पाय परयो।

अथवा

सुनि यह स्याम विरह भरे बारहि गगन निरखत कबहुँ
होत खरे ॥ ३४२९ ॥

यह मान घूंघट है, आवरण है, एक परदा है, जिसे जीवात्मा अपने हाथों नहीं हटा पाता। प्रभु की कृपा ही परदे को हटाती है। ह्लादिनी शक्ति राधा के मान को भगवान ने ही दूर किया। सूर लिखते हैं:—

राधिका तजि मान मया करु तेरे चरन सरन त्रिभुवन पति
मेटि तू होहि कल्पतरु ॥ ३४३५ ॥

जिसकी वन्दना मुनीश्वर करते हैं, योगी जिसका ध्यान लगाते हैं, वह तीनों भुवनों का स्वामी परानुरक्ति से आकृष्ट हुआ। राधा (आराध्या शक्ति) का ध्यान कर रहा है यदि इस समय जीव का मान हट गया है, अहंकृति दूर हो गयी तो उसका कल्पना द्विपरार्द्ध की अवधि के लिए तो दूर हो ही गया। वह स्वयं कल्पवृक्ष बन गया जो समस्त कल्पनाओं तथा कामनाओं की पूर्ति करने वाला है। प्रभु का प्राकट्य अतिथि के रूप में होता है जिसकी कोई तिथि न हो, जो कभी ही कहीं पर प्रकट होता है—राधिका हरि अतिथि तुम्हारे राधा आज हरि अतिथि बनकर तुम्हारे सम्मुख आये हैं। मत चूको यह अवसर

निसंक एवं अनावृत होकर इस अतिथि की अभ्यर्थना करो, अर्चना और पूजा करो, इसके साथ एक हो जाओ। सूर सौरभ में सूर काव्य की आध्यात्मिक विशेषता प्रकरण के अन्तर्गत पद संख्या २७६३ (प्रिया मुख देख्यौ स्याम निहारि) की व्याख्या में हमने इस विषय पर जो लिखा है वह इस आध्यात्मिक तथ्य का भली भाँति उद्‌घाटन करता है। राधा के मान-मोचन पर सूर ने अनेक पद लिखे हैं जिनका स्वारस्य आध्यात्मिक भूमिका में ही गृहीतव्य बनता है।

नवम् अध्याय

वात्सल्य

सूर के वात्सल्य का निरूपण अनेक अलोचकों ने किया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में वात्सल्य भाव का ऐसा अनूठा भावक अन्य कोई भी कवि नहीं हुआ है। वे इस क्षेत्र का कोना-कोना झाँक आये हैं। वास्तव में सूर को मातृ-हृदय प्राप्त था। माता का हृदय ही वात्सल्य भाव की पूरी झांकी ले सकता है जिसे मातृ-हृदय प्राप्त नहीं हुआ, वह वात्सल्य भाव को समझ ही न सकेगा। आंग्ल कवि वर्डसवर्थ ने बालक को ईश्वरीय दूत कहा है जो अपने अयन अथवा प्रभु के समीप से अभी-अभी दुनियाँ में आया है स्वर्ग से सद्यः पृथ्वी की गोद में आने पर पार्थिव रज का सम्पर्क हुआ, है पर अभी वह उससे अनजान है परन्तु ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती जाती है वह स्वर्ग-सम्पर्क से दूर होता जाता है और साँसारिकता का आवरण एक दिन स्वर्गिक सौंदर्य से एक दम वियुक्त कर देता है। जीव के कष्टों की कहानी सांसरिकता के इसी आवरण में छिपी पड़ी है।

वाल्यकाल की इस सौंदर्य निधि को समझने और पहचानने की शक्ति मातृ हृदय में है। एमर्सन के शब्दों में मोक्ष से पूर्व आत्मा को मातृत्व का एक रूप धारण करना पड़ता है। मातृत्व श्रद्धा का अपार रूप है। अविचल श्रद्धा ही आत्मा को परमात्मा से मिलाती है। कविवर प्रसाद ने एमर्सन का समर्थन करते हुये इसीलिए लिखा है:—

> नारी तुम केवल श्रद्धा हो बिश्वास रजत नगपग तल में।
> पीयूष श्रोत सी बहा करो जीवन के सुन्दर समतल में।।

ऊबड़ खाबड़ स्थल की समता पुरुष के जीवन से दी जा सकती है। नारी तो समतल प्रदेश की निवासिनी है। उसकी अभिरुचि वक्र नहीं सरल गति में है। श्रद्धा की गति एकान्त सरल है। गोस्वामी तुलसीदास ने भक्ति रूपी भवानी को श्रद्धा रूपिणी ही कहा है।

नारी के अंग नहीं, नारी के हृदय की महत्ता सभी उन्नत चेतना सहृदय सन्त उल्लेख करते हैं। पवित्रता की नाप यही हृदय है। पवित्र हृदय के ऊपर प्रभु कल्याण की अजस्र वर्षा करते हैं। पवित्रता वह आधार शिला है जिसके ऊपर भावी उन्नयन का भवन खड़ा होता है। सूर के अन्दर माता के समान हृदय की पवित्रता एवं सरलता विद्यमान थी। इसी लिए उनकी भावना चतुर्दिक व्याप्त हो होकर परिधि के एक-एक बिन्दु तक फैल जाती थी। और फिर सिमिट कर केन्द्र में समा जाती थी। वात्सल्य का भी जो सर्वग्राही व्यापक वर्णन सूर कर सके हैं उसका रहस्य उनकी यही व्यापक सहृद-यता है।

मानव जाति का अनुभव जो वाणी की अपार राशि में निबद्ध है और जिसे मानव हृदय आज तक जानी पहिचानी निधि के रूप में सुरक्षित रखे हैं, एक स्वर से सहृदयता एवं भावुकता की सार्वजनीय समता का उद्‌घोष करता है, मानव मनोजव में निरूप असम एवं विभिन्न शरीर तथा प्राण शक्ति में तो भिन्न हैं ही, पर भाव जगत में सब के सब ऐक्य के अनुगामी हैं। कैकेयी ने अपने और भरत के भावी सुख का विचार करके राम को बनवास दिलाया पर जब भरत उसका परित्याग करने को उद्यत हुये तन कठोर कैकेयी का हृदय शतधा विदीर्ण होकर वैसा ही हाहाकार करने लगा, वैसा ही द्रवित होकर बहने लगा जैसा राम बन गमन के समय कौशिल्या का हुआ था कभी-कभी मानव का हृदय भी संसार के कशाघातों को सहता हुआ कठोर हो जाता है पर रम्य दृश्यों, मधुर शब्दों एवं सरल तथा स्निग्ध व्यवहार के समक्ष आते ही न जाने उसका काठिन्य कहाँ तिरोहित हो जाता है। इस क्षेत्र में हृदय एवं श्रव्य काव्य दोनों ही अनुपम सहायक सिद्ध हुये हैं। साहित्य की इस विधा ने विस्मृत सहृदयता को अनेक बार पुनर्जन्म दिया है और मानवमात्र को समानता के स्तर पर ला कर खड़ा किया है।

वाणी का वरद पुत्र कवि इसी लिये देवीपुत्र या सरस्वती पुत्र पद का अधिकारी बना हुआ है। जो कवि जितना ही अधिक भावुक है उसका काव्य उतना

ही अधिक प्रभुविष्णु एवं अमर है। यहाँ सामाजिकता का भी प्रश्न स्वयमेव उपस्थित हो जाता है। सामाजिकता के दो रूप हैं—एक प्रपञ्चगत, राग-द्वेषपूर्ण सामाजिकता और दूसरी रागद्वेष-विहीन भक्तमण्डली की सामाजिकता। एक को नैतिक भावना की आवश्यकता है, सदाचार संस्थापन की अपेक्षा है, दूसरी को नहीं। क्योंकि वह इसके आधार पर ही खड़ी हुयी है। जो कवि सामाजिक संस्कार में पड़ता है उसे सुधार कार्य में संघर्ष का सामना भी करना पड़ता है। इस संघर्ष में वह राग-द्वेष से अतीत नहीं हो पाता। उसकी रचना आदर्शों की सृष्टि खड़ी करती है पर अपने अन्तराल में विद्वेष की दावा से भी असम्पृक्त नहीं रह पाती। जो कवि सामाजिकता के पीछे नहीं पड़ता, नारद एवं शाण्डिल्य के शब्दों में ऐकान्तिक है वही उस समान सहृदय का प्रसार कर सकता है जो मानव के बीच की खाई को पाट सके। हमारा सूर इसी कोटि का कवि है उसके सूर सागर में कोमल अगणित भाव लहरियाँ क्रीड़ा कर रही हैं। वात्सल्य सम्बन्धी भावों का तो सूर सागर में जलप्लावन का-सा दृश्य उपस्थित हो गया है।

शृंगार की भाँति वात्सल्य रस के भी दो पक्ष हैं—संयोग तथा वियोग सूर सौरभ, में हमने वियोग वात्सल्य के चार भेद किये हैं:—

प्रवास को जाते हुये, प्रवास में स्थित, प्रवास से लौटते हुये, तथा करुण विप्रलम्भ।

संयोग पक्षः—सर्व प्रथम हम वात्सल्य के संयोग पक्ष को लेते हैं।

पुत्रजन्मः—विधि का विधान, उसकी अघटित घटना पटीयसी प्रणीति एवं प्रशस्ति। कृष्ण पैदा हुये तमिस्रापूर्ण कारागार में पर प्रकट हुये नन्द एवं यशोदा के भवन में। जहाँ पैदा हुये वहाँ कलरव नहीं भैरव रव गूंज उठा पर जहाँ प्रकट हुये वहाँ बधावे बज उठे और आह्लाद से वायुमण्डल प्रफुल्लित हो उठा। अन्धकार में यह चन्द्र का उदय था। देवकी की नवनिधि यशोदा का सर्वस्व बन रही थी। सूर का हृदय आह्लाद के इस विशाल जलधि में निमग्न हो गया। कई पदों में उसकी इस निमग्नता की झलक दिखाई पड़ती है। दशम स्कन्ध के प्रारम्भिक चालीस पद सम्बन्ध में पठनीय हैं। सूर लिखते हैं:—

आजु हो निसान बाजै नन्द जू महर के।
आनन्द मगन नर गोकुल सहर के॥

आनन्द भरी जसोदा उमंगि अंग न समाति, आनन्दित भई गोपी
गावति पहर के ॥
दूध दधि-रोचन कनक थार लै-लै चली, मानौ इन्द्र बधू जुरि
पातिनि बहर के ।
आनन्दित ग्वाल बाल करत विनोद ख्याल, भुज भरि-भरि धरि अकंम
महर के ॥
आनन्द-मगन धेनु सबै थनु पय-फेनु उमंग्यौ जमुन जल उछलि
लहर के ।
अंकुरित तरुपात, उठठि रहे जे गात, बन वेली प्रफुल्लित कलिनी
कहर के ॥
आनन्दित विप्र सूत मागध जाचक गन उमंगि असीस सब हित हरि के ।
आनन्द-मगन सब अमर गगन छाये पुहुप विमान चढ़ै पहर-पहर के ।
सूरदास प्रभु आइ गोकुल प्रगट भये, संतनि हरषि दुष्ट जन मन
धर के ।६४८।

पुत्र का जन्म किसे सुख नहीं देता । जो पुत्र अपने अंग-अंग से उत्पन्न हुआ जिसे हृदय का टुकड़ा ही कहा जाता है उसका सम्भव मानों अपना अपर जन्म है । 'आत्मा वै जायते पुत्र' में सन्तति के आत्मैक्य का ही स्थापन है । नन्द और यशोदा की कोख से न उत्पन्न होकर भी आज कृष्ण उनके अपने हैं । यशोदा का अंग-अंग फूल उठा है । नन्द आनन्द से ओत प्रोत हैं । प्रसन्न मना गोपिकायें उल्लास पूर्ण गीत गा रही हैं । ग्वाल-बाल हर्ष में डूबे हुए हैं । समग्र गोकुल नगर मोद एवं प्रमोद की क्रीड़ा-स्थल ी बना हुआ है । चेतन ही नहीं अर्द्ध चेतन गायें और अचेतन यमुना आनन्द-रस से सराबोर हो रही हैं । गायों के स्तनों से दुग्ध धारा प्रवाहित हो रही है । यमुना का जल लहरों में उछल रहा है । उखड़े हुए वृक्ष अंकुर देने लगे हैं । वन बेलियों में किल्ले एवं किसलय फूट रहे हैं । विप्र, सूत, मागध, तथा याचक गण उमंग में भरे हुए आशीर्वाद दे रहे हैं । यह तो पृथ्वी पर प्रसन्नता का प्रसार है । ऊपर दृष्टि ले जाइये तो गगन भी इसी प्रकार के प्रमोह का अनुभव कर रहा है । पुष्पक विमानों में चढ़े हुए देवल न जाने कितने प्रकारों से इस उत्सव को देखने की प्रतीक्षा कर रहे थे कृष्ण का प्राकट्य उन्हें भी आनन्द मग्न करने लगा । यह सब कहकर सूर को अपने इष्टदेव का स्मरण हो आता है, जो सन्तों के के लिए सुखदायक तथा दुष्टों को दुखदायक है ।

पुत्र जन्मोत्सव की कथाओं का वर्णन सूर ने निम्नांकित पद में किया है :-

लाई आजु हो बधायो बाजे नंद गोपराइ के ।
जदुकुल जादौराह जनमें हैं आइ के ॥
आनन्दित गोपी-ग्वाल, नाचै कर दै-दै ताल अति अहलाद भयो जसुमति माइ कै ।
सिर पर दूब धरि बैठे नन्द सभा निधि, द्विजनि को जाइ दीनी बहुत मगाइ कै ॥
कनक को माट लाइ हरद दही मिलाइ छिरकै परस पर छल बल धाइ कै ।
आठै कृष्न पच्छ भादौ महर कै दधि कादौ, मोतिन बंधायो नगर महल में जाइ कै ।
ढाढ़ी और ढामिनि गावै ठाढ़ै दुरकै बजावै हरषि असीस देत मस्तकनवाइ कै ॥
जाहे-जाहे माग्यौ जिनि सोइ सो पायो तिनि दीजै सूरदास दर्स भक्तनि बुलाइ कै ।

जन्मोत्सव पर बाजे तो बजते ही हैं, घर से सम्बन्धित व्यक्ति भी हर्षातिरेक से ताली बजा बजाकर नाचने लगते हैं। गोपिकायें और ग्वाले यही कर रहे हैं। नन्द सभा में बैठे हुए हैं, ब्राह्मण आकर आर्शीवाद रूप में दूवदल उनके सिर पर रख देते हैं और अनेक गायों के रूप में दक्षिणा प्राप्त करते हैं। दूब अमरत्व का प्रतीक है, यह कभी नष्ट नहीं होती, इस रूप में नन्द वंश को सदैव स्थिर रहने का आर्शीवाद मिल रहा है। स्वर्ण के मलके हल्दी और दही मिलाकर ग्वाले एक दूसरे पर छिड़क रहे हैं, चारो ओर दही की कीच हो रही है। महल के द्वार पर मोतियों का बन्दनवार बांधा गया है। ढाढी और ढाढिने हुड़क बजाकर गा रहे हैं और प्रसन्न मन से मस्तक झुकाकर आर्शीवाद दे रहे हैं। आगे के पद में सूर ने कुछ अन्य प्रथाओं का भी उल्लेख किया है 'जैसे' मलिन द्वारा बन्दनमाला बाँधना, अष्ट-सिद्धि द्वारा बुहारी लगाना, नवनिधि द्वारा भिति पर स्वस्तिका का चित्रण, भिक्षुकों का आगमन और उनको आभूषण तथा वस्त्रों का दान, सोहिलों का गान, सुतहार द्वारा अगर चन्दन के पालने में लाया जाना, छठी का मनाया जाना, आदि का वर्णन सूर सागर में पाया जाता है।

सूर ने अनावरण शब्दों में अपने कृष्ण को भगवान के रूप में देखा है और अपनी भावना के अनुकूल उनके सौन्दर्य का चित्रण किया है। शोभा की इस अपार निधि का कहीं अंत नहीं है। भगवान की छवि अपार है जिसे उसकी एक झलक भी मिल गई वह आपे में नहीं रहता। इस छवि में अद्भुत आकर्षण है। सभी साधना सम्पन्न साधक उधर आकर्षित होते रहते हैं।

सूर के शब्दों में गोपिकायें वेद की ऋचायें हैं जो निरन्तर उसी के गुण-गान में लीन रहती हैं। कुछ पूर्व जन्म के ऋषियों का रूप हैं जो इस अनिंद्य छवि के साथ एक हो जाना चाहते थे,कुछ तपस्वी भी हैं जिनकी साधना इस कोटि की थी कि वे हरि-दर्शन के अधिकारी बन सकें। भगवान कृष्ण के रूप में उस परम सौन्दर्य निधि का दर्शन करके आज सब कृतकृत्य हो रहे हैं। सूरसागर में जिस पूतना, श्रीधर कसाई, कागासुर और तृणावर्त का वर्णन है, वे पाप कर्मी नीच प्राणी थे। भगवान पापियों का विनाश करते हैं। और धार्मिकों का उद्धार करते हैं, यह इन लीलाओं का लक्ष्यार्थ है।

कृष्ण के बाल सौन्दर्य का एक चित्र देखिये:—

ललन हौ या छवि ऊपर वारी।
बाल गोपाल लागौ इन नैननि रोग बलाइ तुम्हारी।
लट लो लटकनि, मोहनि मसि विन्दुका तिलक भाल सुखकारी॥
मानौ कमलदल सावक पेखत उड़त मधुप छवि न्यारी।
लोचन ललित कपोलनि काजर, छवि उपजत अधिकारी।
सुख में सुख औरे रुचि बाढ़ति, हँसत देत किलकारी॥
अलप दसन कल बल करि बोलनि, बुधि नहिं परत विचारी।
विकसति ज्योति अधर-बिच, मानौ विधु मैं विज्जु उजारी॥
सुन्दरता कौ पार न पावति, रूप देखि महतारी।
सूर सिन्धु की बूँद गई मिलि मति गति दृष्टि हमारी॥७०९॥

यशोदा अपने लाल की शोभा पर मुग्ध हैं, बाल गोपाल का यह सौन्दर्य अक्षुण्य रहे, उसे कोई रोग न लगे, कोई बलाइ या विपत्ति आक्रांत न करे, ऐसी अभिलाषा प्रत्येक मातृ-हृदय की रहती है। मां को यह अकांक्षा स्वा- भाविक है इसके लिए ठिठौना करती है, अर्थात माथे पर काजल की टिकुली लगाती है, कहीं लट में हींग लगाती है, और कहीं अन्य उपचार करती है। उद्देश्य एक ही है कि बच्चे को कहीं किसी की दृष्टि न लगे। मोहन के लटें लटक रही हैं, भाल पर तिलक और कज्जल का विन्दु है, कवि उत्प्रेक्षा करता है मानो कमल दलों में अपने सावकों को देख अद्भुत छवि मधुप उड़ान

कर रहे हैं। सुन्दर नेत्र हैं, कज्जल धुलकर कपोलों पर आ गया है उससे शोभा और भी अधिक बढ़ गयी है, जब किलकारी भर कर कृष्ण हँस उठते है तब तो यह शोभा और भी अधिक बढ़ जाती है, सुख में और भी अधिक बाढ़ आ जाती है, सुख में और भी अधिक सुख का उदय हो जाता है। कृष्ण के छोटे-छोटे दाँत कलबल कर निकलते हुए वचन बुद्धि को भ्रम में डाल देते हैं। ओष्ठों के बीच से जब ज्योति विकसित होने लगती है तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे चन्द्रमा में विद्युत चमक उठती हो। यशोदा इस रूप को देख रही हैं और अनन्त सौन्दर्य के सुख में डुबकी लगा रही हैं। हमारी तो मति ही कितनी है वह तो इस अपार सिन्धु की एक विन्दु से ही मिलकर रह जाती है। सूर ने कृष्ण के मुख, नेत्र, भुजा, पैर, अंगुलियों, नख केश आदि का तन्मय होकर वर्णन किया है। बाल सौन्दर्य का एक और अनुपम चित्र लीजिये:—

सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरन चलत रेनु तन मण्डित मुख दधि लेप किये॥
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिये।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक माधुहिं पिये॥
कठुला-कण्ठ वज्र केहरि नख राजत रुचिर हिये।
धन्य सूर एकौ पल हरि सुख का सत कलप जिये॥
।७१७।

कृष्ण के हाथ में मक्खन है। घुटनों के बल चलने से शरीर रेणु से मण्डित हो रहा है, मुख पर दधि का लेप है, कपोलों की चारुता और नेत्रों की चंचलता के ऊपर भाल पर गोरोचन का तिलक है। लटें लटक रही हैं, ऐसा जान पड़ता है जैसे मतवाले मधुपों का समुदाय मादक मधु का पान कर रहा है। कण्ठ में कठुला है जिसमें हीरा पिरोया हुआ हीरा तथा सिंह का नख वक्षस्थल पर शोभायमान हो रहे हैं। सूर कहते हैं इस सौन्दर्य से पल भर का सुख भी जिसने प्राप्त कर लिया उसके आगे सौ कल्प तक जीने का भी कोई अर्थ नहीं है।

आचार्य बल्लभ ने भगवान की बालरूप में उपासना की थी। सम्प्रदाय में उपासना की यही पद्धति आज तक प्रचलित है। वाल्यावस्था मनोमुग्धकारी एवं जन हृदय रंजनकारी होती है। भगवान को अपने लाल रूप में अनुभव करना भक्ति-भावना की अतीव कोमल एवं कमनीय स्थिति कही जा सकती

है। भक्ति में सर्वस्व समर्पण स्वतः आ जाता है। अपने लाल के लिये उसकी बाल-हठ को पूर्ण करने के लिये, उसकी सुरक्षा एवं वृद्धि के लिए माता-पिता क्या नहीं कर सकते ? बाल चरित्र उनके मन को केन्द्रस्थ करने के लिए अचूक साधन है। बाल गोपाल भगवान कृष्ण की शैशव लीलायें जहाँ मनोवैज्ञानिकों के लिए बालवृत्ति निरूपण में सहायक होंगी, वहाँ भावुक भक्तों के लिए भी कम आकर्षक नहीं हो सकती। प्रायः प्रत्येक गृहस्थ के सामने लीलायें आया ही करती हैं। परन्तु उन्हें नव्य एवं भव्य रूप में उपस्थित करना किसी कुशल कवि का ही काम है। निम्नाँकित पद में बालोचित वृत्तियों का अनुभव कीजिये, वे स्वाभाविक भी हैं और साथ ही चमत्कृतिपूर्ण भी:—

हरि अपने आँगन कछु गावत।
तनक-तनक चरननि सौं नाचत, मनहिं-मनहिं रिझावत ।।
बाह उठाइ काजरी, धौरी, गँयनि टेरि बुलावत।
कबहुंक बाबा नन्द पुकारत, कबहुँक घर मैं आवत ।।
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत।
कबहुँक चितै प्रतिबिम्ब खम्भ में लौनी लिये खवावत ।।
दुरि देखति जसुमति यह लीला, हरष अनंद बढ़ावत।
सूर स्याम के बाल चरित चित नित ही देखन भावत ।।
। ७९५ ।

भगवान अपने आंगन में खेल रहे हैं। उनके मुख से कोई मधुर संगीत ध्वनि निकल रही है। बालवृत्ति वैसे भी संगीतात्मक होती है, उसे भाव जगत की प्रसव भूमि या प्रेरिका भी कहा जा सकता है। संगीत में ध्वनियों का सामंजस्य होता है। यह सामंजस्य बाल्यावस्था में भी विद्यमान रहता है। राग-द्वेष की वक्रता शैशव में नहीं यौवन में प्रारम्भ एवं विकसित होती है। अतः समता विधायनी बाल्यावस्था बालक को संगीत की ओर यदि ले जाती है तो स्वाभाविक ही है। संगीत के साथ नृत्य भी लगा रहता है और अपने छोटे-छोटे चरणों से नाचते भी जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति से प्रसन्न होना सबके लिए स्वाभाविक ही है। बालक चेतन और अचेतन का भी भेद नहीं करता, इसीलिए वे अपनी भुजा उठाकर श्यामा एवं धवल गायों को आवाज देकर बुला रहे हैं, बीच बीच में वे नन्द बाबा को भी पुकारने लगते और फिर आँगन से घर में चले आते हैं। घर में मक्खन तो है ही उसे देखते ही हाथ से उठा लेते हैं, और थोड़ा सा अपने मुख में डाल देते हैं पर जब खम्भे में

पड़ते हुए प्रतिबिम्ब को देखते हैं, तो उसे भी बालक समझकर खिलाने लगते हैं। प्रतिबिम्ब भला मक्खन क्या खायेगा, खम्भे से नवनीत चिपटा रह जाता है। यशोदा छिप कर यह लीला देख रही हैं, उनके हर्ष और आनन्द का कोई वारपार नहीं है। कन्हैया के ये बाल चरित्र सबको अच्छे लगते हैं और सदैव आनन्ददायक हैं। जैसे भगवान देश और काल से परे हैं, वैसे शिशु भी, तभी तो तुलसीदास लिखते हैं—छोटे पै मीठे लगै—बाल अवस्था कितनी मधुर है, कितनी सम है, कितनी संगीतमयी और कितनी आनन्दमयी है। इसका अनुभव तो बड़े होने पर ही होता है।

बाल्यावस्था संश्लेषणमयी है विश्लेषणमयी नहीं। विश्लेषण बुद्धि की प्रौढ़ता पर अवलम्बित है। बालक अनेक वस्तुओं को एकत्र कर सकता है पर उनके गुण ज्ञान के अभाव में उनमें पार्थक्य स्थापित नहीं कर सकता। तभी तो कन्हैया रात्रि में उदित हुए चन्द्रमा को देखकर उसे खिलौना समझ लेता है और उसे लेने को मचल उठता है, प्रसंग था कृष्ण को स्नान कराने का पर स्नान का नाम सुनते ही वह लौट गये और रोने लगे। यशोदा ने अनेक युक्तियों से उन्हें बहलाने का प्रयास किया, पर कृष्ण मनाने पर भी न माने। रात्रि हो गयी, यशोदा ने कृष्ण को गोद में उठा लिया और आँगन में खड़ी होकर चन्द्रमा को दिखाने लगीं। कृष्ण चन्द्र को देखते ही चुप हो गये और माता से चन्द्र को मँगा देने की हठ करने लगे। उन्होंने समझा कि चन्द्र कोई मक्खन का लोंदा है, भूख लगी ही थी, कहने लगे—माँ इसी चन्द्र को मँगा दे मैं इसे खाऊँगा। यशोदा को लेने के देने पड़ गये। चन्द्र को यशोदा भला कैसे मँगा सकती थी। अतः वे कृष्ण की दृष्टि चन्द्र से हटाकर आकाश में उड़ती चिड़ियों की ओर मोड़ने लगीं। इस पर भी कृष्ण न माने तो कहने लगीं 'यह तो आहि खिलौना सबको खान कहत तिहि तात।' यह तो सबके लिये खिलौना है—मक्खन नहीं है। अच्छा कृष्ण तुम अड़ न पकड़ो, इसी चन्द्र खिलौना को देखते रहो। अब कृष्ण चन्द्र खिलौना लेने पर अड़ गये। यशोदा ने अनेक उपाय सोचे वह अन्दर गयीं और एक बर्तन में जल भरकर ले आयीं। सूर लिखते हैं :—

> बार-बार जसुमति सुत बोधति, आउ चन्द तोहि लाल बुलावै।
> मधु-मेवा-पकवान-मिठाई आपनु खैहै तोहि खवावैं।
> हाथहि पर तोहि लीन्हे खेलहि, नेकु नहीं धरनी बैठावै।
> जल बासन कर लै जु उठावति याही मैं तू तन धरि आवै।

जल-पुट आनि धरनि पर राख्यो गहि आन्यो वह चन्द दिखावै ।
सूरदास प्रभु—हँसि मुस्काने, बार-बार दोऊ कर नावै ।
८०९ ।

जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब को देखते ही कृष्ण किलकारियाँ भरने लगे और उसे पकड़ने के लिए अपने दोनों हाथ जल के भीतर डालने लगे, पर वहाँ चन्द्रमा कहाँ था, हाथ डालने पर जब वह न मिला तो फिर रोने लगे। उनकी हठ थी :—

मैया री मैं चन्द लहौंगो ।
कहा करौं जलपुट भीतर को, बाहर क्योंकि गहोंगो ॥
यह तो झलमलात झकझोरत, कैसे कै जु लहौंगो ।
यह तो निपट-निपट ही देखत वरज्यों हौं न रहोंगो ॥
तुम्हरो प्रेम प्रकट में जान्यौ, बौराये न बहौगो ।
सूर स्याम कहै कर गहि ल्याऊँ, ससि तन ताप दहौंगो ॥
८१२ ।

मैं तो चन्द्रमा को ही लूँगा। जल के भीतर का दिखाई पड़ने वाला कुछ और होगा। मैं तो उस चन्द्र को लूँगा जो बाहर दिखाई दे रहा है। जल के भीतर का चन्द्र तो झलमला रहा है, झकझोर खा रहा है, उसे मैं कैसे पकड़ सकता हूँ, और यह ऊपर का चन्द तो नितान्त निकट दिखाई पड़ रहा तू मुझे क्यों वर्जित करती है, मैं तेरे बहकाने में नहीं आऊँगा। मैं अभी इसे हाथ से पकड़ लाता हूँ। यशोदा फिर कहने और समझाने लगीं:—

लै-लै मोहन चन्दा लै ।
कमल नैन बलि जाऊँ सुचित ह्वै नीचे नेकु चितै ॥
जा कारन तै सुनि सुत सुन्दर कीन्ही हती अरै ।
सोइ सुधाकर देखि कन्हैया, भाजन माँहि परै ॥
नभ तै निकट आनि राख्यौ है जलपुट जतन जुगै ।
लै अपने कर काढ़ि चन्द को जौं भावै सो कै ॥
गगन-मंडल तैं गहि आन्यौ है पंछी एक पठै ।
सूरदास प्रभु इती बात कौं कत मेरो लाल हठै ॥
८१३।

मोहन ! तनिक नीचे की ओर तो देख और सावधान होकर चन्द्र को पकड़ ले। जिस चन्द्र के लिए तू इतनी अड़ कर रहा है उसी को पकड़ने के लिए मैंने एक पक्षी आकाश में भेजा था उसने यत्न पूर्वक उसे लाकर तेरे निकट ही जलपुट में रख दिया है, अब तू उसे अपने हाथ से निकाल ले और जैसा तेरे मन को अच्छा लगे। मेरे लाल इतनी थोड़ी बात के लिए हठ क्यों कर रहा है।

जब चन्द्र पकड़ में न आया और कृष्ण को निद्रा आक्रान्त करने लगी तो यशोदा ने यह कर कि चन्द्रमा तो तेरे डर के मारे पाताल की ओर भाग गया है, कृष्ण को छाती से लगा लिया। और हाथों से थपथपाकर उन्हें पलंग पर सुला दिया।

बाल दशा के न जाने कितने दृश्य सूर ने अंकित किये हैं। उन सबके लिखने का अर्थ होगा, इस ग्रन्थ को भी दूसरा सूरसागर बना देना। बानगी के लिये यहाँ क्रीड़न का एक चित्र और उपस्थित करते हैं। बच्चों की पारस्परिक प्रतिद्विन्द्विता प्रख्यात है। कृष्ण अपने साथियों के साथ नाना रंगों क्रीड़ा कर रहे हैं, इस क्रीड़ा का एक जीवित चित्र सूर ने निम्नाँकित पद में अंकित किया है —

खेलत स्याम ग्वालनि संग।
सुबल हलधर अरु श्रीदामा करत नाना रंग ॥
हाथ तारी देत भाजत सबै करि करि होड़।
बार्जै हलधर, स्याम, तुम जनि चोट लागै गोड़ ॥
तब कह्यौ मैं दौरि जानत, बहुत बल मो गात।
मोरि जोरी है श्री दामा हाथ मारे जात ॥
उठे बोलि तबै श्रीदामा जाहु तारी मारि,
आगे हरि पीछे श्रीदामा धरयो स्याम हकारि ॥
जानि कै मैं रह्यौ ठाढौ छुवत कहा जु मोंहि।
सूर हरि खीझत सखा सों मनहि कीन्हों काहि ॥८१३॥

स्याम के साथी सुवल हलधर और श्रीदामा खेलने लगे। हाथ में हाथ मारकर और होड़ बदकर जब सब भागने लगे, तब हलधर ने स्याम को रोका और कहा 'तुम मत दौड़ो पैर में चोट लग जायगी। प्रत्युत्तर में कृष्ण बोल उठे 'मैं दौड़ना जानता हूँ मेरे शरीर में बहुत बल है मेरी जोड़ी का श्रीदामा है वह हाथ मारकर जा रहा है।' श्रीदामा ने कहा तुम्हीं हाथ मारकर भागो। कृष्ण दौड़ने लगे उनके पीछे श्रीदामा दौड़ने लगा और जाकर

स्याम को पकड़ लिया। कृष्ण खीझकर कहने लगे मुझे क्यों छू रहा है मैं तो जान बूझकर खड़ा हो गया यदि दौड़ने में छू लिया होता तो तेरी बलवन्ता मानी जाती।

सूर ने क्रीड़ा के प्रसंग में कृष्ण के भगवत रूप को भी व्यञ्जना द्वारा प्रकट किया है। हलधर कहते हैं कि कृष्ण की न कोई माँ है न, पिता, इन्हें पराजय का ज्ञान है न विजय का। इस साधारण कथन से प्रभु के वास्तविक रूप की अभिव्यञ्जना हो रही है।

श्वेताश्वर उपनिषद कहती है :—

न तस्य कश्चित परिरस्ति लोके,
न चोशिता नैव चतस्य लिङ्गम्।
स कारणं करुणानिधान पाधियो,
न चास्यं कश्चित जनिता न चाधिपाः।

प्रभु सबके जनक हैं, सबके माता-पिता हैं। वे स्वयंभू हैं उनका जनक कोई भी नहीं है। जीवात्मा प्रकृति के फलों का स्वाद चखने के कारण कर्म चक्र में पड़ता है और नाना प्रकार की योनियों में भ्रमण करता हुआ अनेक माता पिताओं की सन्तति बनता हैं। परमात्मा प्रकृति के फलों को भोगता नहीं, सबका दृष्टामात्र है। जय और पराजय कर्म विपाक केसाथ सम्बद्ध हैं। ये भी जीवात्मा को व्यापती है परमात्मा को नहीं।

यह तो दर्शन क्षेत्र की बात है, सूर के भाव क्षेत्र में कन्हैया यशोदा का पुत्र है। जिस सत्व गुण सम्पन्न यशस्विनी यशोदा ने उस ज्योति को उपलब्ध किया है, वह कृष्ण से अपना नाता कैसे तोड़ ले। वह तो निम्नांकित शब्दों में कहेगी ही—

सुनहुँ कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत।
सूर स्याम मोहि गोधन की सों हौं माता तू पूत।८३३।

अपने प्रकाशित निबन्ध संग्रह 'सारस्वत में' हमने 'आचार्य वल्लभ की बाल पूजा का आध्यात्मिक आधार' शीर्षक निबन्ध के अन्तरगत इस विषय पर विस्तार पूर्वक लिखा है। पाठक उसे वहीं पढ़ने की कृपा करें।

जैसा लिख चुके हैं कि सूर्य अपने बाल गोपाल के प्रभु रूप को कभी विस्मृत नहीं करते। माटी खाने के प्रसंग में कृष्ण-विभुता का उन्होंने स्पष्ट

शब्दों में वर्णन किया है। उन्हीं के शब्दों में जब कृष्ण ने मिट्टी खा ली तो एक गोपिका ने यशोदा से कहाः—

"मुंह देखत जसुमत तेरे ढोटा,
अबहीं माटी खाई।"

× × ×

यह सुनते ही यशोदा क्रोध में पकड़कर और हाथ में साटी लेकर कहने लगीं:—

"मारति हौं अब तुह अबहिं कन्हैया
बेगि न उगलय माटी।"

कृष्ण ने कहा कि ब्रज के यह लड़के सब तेरे सामने झूठ बोल रहे है, मैंने मिट्टी नहीं खाई है। जब यशोदा ने मुंह खोलकर दिखाने के लिए कहा तो कृष्ण ने मुख खोल दिया, पर वहाँ मिट्टी नहीं कुछ और ही दृश्य था। सूर के शब्दों में —

बदन उघारि दिखायो त्रिभुवन,
बन घन नदी सुमेरू।
नभ ससि-रवि मुख भीतर ही सब,
सागर धरनी फेर।८७१।

अथवा

अखिल ब्रह्माण्ड खण्ड की महिमा दिखराई मुख माहि।
सिन्धु सुमेरु नदी बन पर्वत चकित भई मन चाहि।८७३।

अथवा

माटी के मिस मुख दिखरायो तिहू लोक रजधानी।
स्वर्ग पताल धरनि बन पर्वत बदन माझ रहे आनी।८७४।

गीता के विराटरूप की भाँति कृष्ण के इस रूप को देखकर यशोदा चकित हो कहने लगीं, इस मुख को बन्द करो मैं बलि जाती हूँ, गर्ग तुम्हारे इस रूप की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। सालिग्राम, गोवर्धन, कालीदह, आदि अनेक प्रसंगों में सूर ने इसी तथ्य का उल्लेख किया है।

संयोग वात्सल्य में कोई प्रफुल्लता ही नहीं कभी-कभी चिन्ता अनिष्ट भीरुता विषमय, भावी आकांक्षायें ललक आदि भावनायें भी उद्भूत होती

रहती हैं। जिनसे मातृ-हृदय थोड़ी देर के लिए ही सही सशंक बनता रहता है। उत्फुल्लता उतने ही समय के लिए तिरोहित हो जाती है।

पिता का हृदय माता के हृदय की अपेक्षा कठोर होता है, उसमें ममत्व होता है पर निरपेक्षता भी कम नहीं होती। पिता एक बार पुत्र की आकाँक्षा की अवलेहना भी कर देगा, पर माँ का हृदय ऐसा करने में असमर्थ है। चन्द्र खिलौना प्रस्ताव में हम उसका दिग्ग्दर्शन करा चुके हैं। माँ आशाओं से परि-पूर्ण रहती है, वह चाहती है, कि उसका बच्चा शीघ्र ही बड़ा होकर उसे मां कहने लगे, आंगन में रुनझुन करता हुआ ठुमक-ठुमुक डोलने लगे। तोतली वाणी में अस्फुट स्वरों का उच्चारण करे और अंचल पकड़कर कुछ झगड़ उठे। निम्नाँकित्त पदों की पंक्तियों में यशोदा की कुछ इस प्रकार की अभिलाषायें अभिव्यक्त हुई हैं।

(१) नन्दघरनि आनन्द भरी सुत स्याम खिलावै।
कबहि घुटुरुवन चलैंगे कहि विधिहि मनावै॥
कबहि दतुलि दूध की देखौं इन नैननि।
कबहि कमल मुख बोलिहै सुनिहौ उन बैननि॥
चूमति कर-पग अधर भ्रू, लटकति लट चूमति।
कहा वरनि सूरज कहै, कहँ पावै सो मति।६९२।

(२) जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवनि में रेंगे कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दाँत दूध कै देखौं कब तोतर मुख बचन झरै।
कब नन्दहि बा कहि बोलै कब जननी कहि मोहटेरे।
कब मेरो अचरा गह गोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरे।
कब धौ तनकि-तनकि कछु खैहै, अपने कर सों मुखहि भरे।
६९४।

भावी आकाँक्षायें सफल होगीं अथवा नहीं और होगीं तो कब होगीं इस चिन्ता से ग्रसित मन आकुलता से आक्रांत हो सकता है पर जब बच्चे पर कोई विपत्ति आ जाती है तो माता का हृदय विचलित हो उठता है। वह पुत्र के कष्ट को सह नहीं सकती। पूतना के आने पर यशोदा इसलिए विकल हो रही है। सूर लिखते हैं:-

जसुमति विकल भई छिन कल ना।
लेहु उठाय पूतना उर तैं मेरो सुभग सांवरो ललना। ६७२।

जब तृणावर्त कृष्ण को अन्धड़ में उड़ाकर ऊपर ले गया, तब कृष्ण ने वहीं पर उसे मार डाला और स्वयं नीचे आँगन में आ गये। यशोदा व्यथित हो उठीं और कृष्ण के कष्ट को अपने उदर लेने की बात कहने लगीं। यशोदा की इस व्यथा को सूर ने निम्नांकित शब्दों में अभिव्यक्त किया है :—

उबरयो स्याम महरि बड़ भागी।
बहुत दूर तै आय परयो धर धौं कहुँ चोट न लागी।
रोग लेऊं बलि जाऊं कन्हैया यह कहि कंठ लगाइ।
तुम्हीं हौ व्रंज के जीवन धन देखत नैन सिराइ।३९७।

कनछेदन के अवसर पर भी स्वर्ण के दो दुरों के द्वारा छिदने पर कृष्ण के कान पर पीड़ा होगी, यह अनुभव करते ही यशोदा के हृदय में धुकधुकी चलने लगी।

जब कर्णछेदन होने लगा, तब तो यशोदा के दोनों नेत्र भर आए और मुड़कर एक ओर खड़ी हो गई—

(लोचन भरि–भरि दोऊ, माता कनछेदन देखत जिय मुरकी)
बच्चे को प्रसन्न करने के लिए मां सब कुछ कर सकती है।
यह कहत जसोदा रानी। को खिझवै सारंग पानी॥
जो मेरे लाल खिजावै सो अपनो कीन्हों पावे॥
तिहि देहौ देश निकासो ताको व्रज नाहिन गारौ।८०१।

एक दिन कृष्ण खेलते खेलते कहीं दूर निकल गये। बलराम ने आकर यशोदा से कह दिया कि साथ साथ घूमते हुए भी न जाने कृष्ण कहां चला गया है, इतनी देर हो गई अभी तक नहीं आया। अनिष्ट भीरु हृदया यशोदा यह सुनते ही व्याकुल हो उठी और बलराम से कहने लगी—

पलक ओट पावत नहिं मोको कहा कहौं तोहि बातैं

पर इतने में ही कृष्ण आ गये तो 'दौरि जाइ उर लाइ सूर प्रभु हरषि यशोदा लीन्हें।'

बकासुर बध के समय भी ब्रज के समस्त बालक विषमय में पड़ गये थे, और यशोदा तथा नन्द की कृष्ण जैसे पुत्र के कारण प्रशंसा करने लगे थे। यशोदा और नन्द भी बकासुर-बध की बात सुनकर चकित हो उठे थे:—

सुनत नन्द जसुमत चकृत चित,
चकृत गोकुल के नर-नारि।
सूरदास प्रभु मन हरि लीन्हौं।
तब जननी भरि लै अंकवारि ॥

यही दशा अघासुर बध के समय भी यशोदा की हुई थी।

वियोग वात्सल्य

(१) **प्रवास के जाते हुए**—मात-हृदय की सबसे अधिक आकर्षणमयी व्यन्जना कृष्ण के चले जाने पर हुई है। अक्रूर मथुरा से कृष्ण और बलराम को लेने आये हैं। कंस ने उन्हें धनुषयज्ञ देखने के लिए बुला भेजा है। अक्रूर के आते ही ग्वाल बाल एकत्र हो गये हैं। सुमन–समान सुकुमार कृष्ण और बलराम को अक्रूर ने गोद में उठा लिया और दोनों भाई 'बोलत नहीं नेक चितवत नहीं, सुफलक सुत सों पागे' पर यशोदा पुत्रों के मथुरा गमन की बात सुनते ही व्याकुल हो गईं, जैसे चकोरी चन्द्रमा की ओर देखते हुए भी तृप्त नहीं होती, वैसे ही जिन पुत्रों की मुख छवि देखते-देखते अघाती नहीं, देखने के बाद फिर देखने की इच्छा बनी रहती है उनको एक बारगी अपने सामने से हट जाने का अनुभव करके यशोदा का हृदय रो पड़ा। वह कहने लगीं:—

(१) मेरे भाई निधनी कौ धन माधौ।
बारम्बार निरखि सुख मानत तजत नहीं पल आपौ।३५८९।

(२) गोकुल कान्ह कमल दल लोचन हरि सबहिंन के प्राण॥
कौन न्याव अक्रूर करत हैं कहै मथुरा लै जाव।३५८।

कृष्ण वियोग का अनुभव कर यशोदा कहती है :—

जसुमति कहै सुनहु सुफलक सुत सत मैं इन बहुत दुखिन सौंपो।
से कहा जानहि सभा राज को ये गुरजन विप्रौ न जुहारे॥
मथुरा असुर समूह बसत है, कर कृपाण जोधा हथियार।
सूरदास से लरिका दोऊ, इन कब देखे मल्ल अखारो।३५८६।

जो कृष्ण गोकुल में रहते हुए गुरुजन और ब्राह्मण तक को प्रणाम नहीं करते,वे मथुरा की राजसभा का आचार-व्यवहार क्या समझेंगे ? (समासोक्ति द्वारा यह भी ध्वनि निकलती है कि यह कंसे को तुच्छ समझकर निरादृत करके मार डालेंगे। मथुरा में होशियार बन्द असुरों का समूह है इससे यशोदा

को वहां भेजने में अनिष्ट बन्द असुरों का समूह है हमसे यशोदा ण कृष्ण को वहाँ भेजने में अनिष्ट की अशंका करने लगती हैं और कहती है:—

अक्रूर जो कुछ राजकीय धनांश में हमारी ओर निकलता है उसे लेखा करके ले लो। बुलाया ही है तो नन्द महर तुम्हारे साथ चले जायेंगे। लड़की के जाने की वहाँ क्या आवश्यकता है? कंस मुझे भले ही बन्धन में डाल दे पर कृष्ण को तो मैं किसी प्रकार नहीं भेज सकती। 'सूर स्यामघन हौं नहिं पठऊं अबहिं कंस किन बांधौ।' पर फिर अनुभव करती हैं कि कृष्ण अक्रूर के साथ चले ही जावेंगे, तो हताश होकर कहने लगती हैं—

जशोदा बार-बार यों भाखै ।
है कोउ व्रज में हितू हमारो चलत गोपाल हि राखै ।।
कहा करै मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलायो '
सुफलक सुत मेरे प्राण हनन को कालरूप ह्वै आयो ।।
वरु ए गोधन हरें कंस सब मोहि बन्दिलै मेलौ ।
इतने ही सुखकमल नैन मेरी अंखियन आगे खेलौ ।

यशोदा नहीं चाहती थीं कि कृष्ण उसकी आँखों के सामने से अलग हों। कृष्ण के बदले वह कंस को अपना समस्त गोधन देने को उद्यत है, स्वयं कारागार के कष्ट झेलने को तैयार है, पर आँगन में छगन मगन कर खेलते हुए कृष्ण को अपने सामने से दूर करने में उसे जो व्यथा होती है वह असह्य-नीय है, अवर्णनीय है। कृष्ण की अनुपस्थिति में 'को कर कमल मथानी धरि है, को माखन अरि खैहैं' का अनुभव करते ही उसका हृदय शतधा विदीर्ण हो जाता है। वह मूर्छित होकर गिर पड़ती है। नन्द उसे समझाते हैं कि कृष्ण के साथ जायेंगे और धनुषयज्ञ दिखाकर दोनों पुत्रों को शीघ्र वापस ले आवेंगे। कंस की क्रूरता के कारण कृष्ण की जो आशंका यशोदा के हृदय में है, उसे भी वे दूर करते हुए कहते हैं:—

भरोसौ कान्ह कौ है मौहि ।
सुन जशोदा कंस भय ते तू जनि व्याकुल होई ।।
अघ बक बेनु तृणावर्त केसी कौ बल देख्यौ जोहि ।
सात दिवस गोवर्धन राख्यौ इन्द्र गयो द्रुव छोहि ।३५९।

जिस कृष्ण ने इतने बल का परिचय दिया है कंस उसका बाल बाँका भी न कर सकेगा। पर माँ का तो हृदय ही है। उसे इन तर्कों से कैसे सन्तोष

हो। उसके घायल हृदय को भरने के लिए तो शीतल मरहम की आवश्यकता है। यशोदा बेचैन हो रही है और रोहिणी ? सूर इसके भी हृदय का परिचय स्थान-स्थान पर दे देते हैं। वह भी व्याकुल होकर कहती है :—

'ऐ दोऊ भइया ब्रज के जीवन कहत रोहिणी रोई :—
'निठुर भये जब ते यह आयौ घरहूँ आवत नाहीं।'
और
'धरणी गिरत दुरति अति व्याकुल कहि राखत नहिं कोई।'

रोहिणी दुःखी होकर गिर पड़ती है, कोई कितना ही कहे उसकी व्याकुलता दूर नहीं होती, इस समय हलधर की वेदान्त की शिक्षा जन्म मिथ्यात्व एवं क्षण भंगुरता रोहिणी के लिए और भी अधिक क्लेशकारक सिद्ध होते हैं, जिन्हें सुनकर वह फिर मूर्छित हो जाती है। कृष्ण का अक्रूर के साथ लगे रहना और घर न आना भावी-वियोग की सूचना देने वाले हैं।

कृष्ण मथुरा जाने के लिये रथ पर आरूढ़ हो गये, उस समय यशोदा जो विलाप करती है, वह अतीव मर्मस्पर्शी है—

मोहन नेकु बदन तन हेरौ।
राखौ माहि नात जननी को मदन गोपा ललाल मुख फेरौ॥
पीछे चढ़ौ विमान मनोहर बहुरौ यदुपति होत अँधेरौ।
बिछुरत भेंट देहु ठाढ़े ह्वै निरखौ घोष जनम को खेरौ॥
३६०८। ना० प्रा० स०

जन्म के खेरे को देखने में कितनी व्यथा भरी पड़ी है। यही तो वे चिर परिचित स्थान हैं, जिनके साथ मानव राग अतीत काल से चिपटा चला आता है।

प्रवास में स्थित—नन्द मथुरा से लौट आये। उनके साथ कृष्ण को न देखकर यशोदा वैसे ही मूर्छित होकर गिर पड़ीं, जैसे तुषार के पड़ने से सरोवर का कमल कुम्हला जाता है। यशोदा नन्द पर बिगड़ीं और दशरथ का उदाहरण सुनाकर उन्हें धिक्कारने लगीं। नन्द भी यह सुनकर व्याकुल हो गये और मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़े। सूर ने बाल स्नेह में माता-पिता दोनों को ही विभोर कर दिया है। कभी नन्द यशोदा से कहते हैं—

तब तू मारि बोई करति। रिसनि आगे कहि जो आवत अब लै भाँड़े भरति, तो कभी यशोदा नन्द से कहती हैं :—

सूर नन्द फिरि जाहु मधुपुरी ल्यावहु सुत करि कोटि जतन।

तथा

नन्द ब्रज लीजै ठोकि बजाइ।
देहु विदा मिलि जाहि मधुपुरी जहँ गोकुल के राइ ॥३७८६

कृष्ण की प्रिय वस्तुओं को देखकर यशोदा और भी अधिक करुणा-क्रान्त हो जाती हैं :—

जद्यपि मन समझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग॥
विदरत नाहिं वज्र को हिरदय हरि-वियोग क्यों सहिये।
सूरदास प्रभु कमल नैन बिनु कौने विधि ब्रज रहियो॥
३७८४।

मथुरा को जाता हुआ कोई पथिक मिल जाता है, तो यशोदा कहने लगती हैं :—

जद्यपि मन समझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख जोग॥
प्रात काल उठि माखन रोटी को बिनु माँगे दैहे।
अरु उठि मेरे कुँवर कान्ह को छिन-छिन अङ्कम दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी जिनके मोसो मैया॥
३७९१।

पद के अन्तिम पंक्ति में मातृ-हृदय की सहज गम्भीर वेदना मूर्तिमती होकर वेवशी, लाचारी और तड़पन का दृश्य उपस्थित कर रही है।

नीचे लिखे पद में यशोदा पथिक से कहती है, कि कृष्ण बड़ा संकोची है, देवकी से माँगने में लज्जा अनुभव करता होगा। अतः देवकी के पास मेरा यह सन्देश पहुँचा देना कि प्रातःकाल होते ही कृष्ण को मक्खन रोटी अच्छी लगती है। कृष्ण हठी भी हैं। वह क्रमशः धीरे ही किसी के कहने में आता है, यशोदा का दैन्य भी उसकी लालसा के साथ इस पद में प्रकट हो रहा है :—

सन्देशो देवकी सो कहियो।
हौतो धांय तिहारे सुत की दया करत ही रहियो॥
यद्यपि टेव जानती हुँ हो तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्हहि माखन रोटी भावै॥
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।

जोह-जोह माँगत सोह-सोह देतो क्रम-क्रम करि-करि न्हाते ।।
सूर पथिक सुनु मोहि रैन दिन बढ़्यो रहत दिन सोच ।
मेरो अलख लड़ैतो मोहन ह्वै है करत संकोच ।।
३७५३ ।

नीचे के पद में प्रवास स्थित वात्सल्य की विशद व्यंजना है—
मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कुछ वैसोहि धरयो रहै ।
को उठि प्रात होत लै माखन को कर नेत गहै ।।
सूने भवन यशोदा सुत के गुनि-गुनि सूल सहै ।
दिन उठि घेरत घर ग्वारिनि उरहन कोउ न कहै ।।
सूरदास स्वामी बिनु गोकुल कौड़ी हू जल है ।।
३७९८ । ना० प्र० स०

(३) **प्रवास से लौटते हुए**—इसकी एक झलक तो उस समय दिखाई पड़ती है, जब नन्द कृष्ण और बलराम को छोड़कर मथुरा से लौटकर गोकुल आये । यशोदा और रोहिणी नन्द के आगमन के साथ कृष्ण और बलराम के आगमन की भी उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा कर रही थीं और उनके वियोग से व्याकुल होकर बार-बार मथुरा मार्ग की ओर आंखें ले जाती थीं । नन्द को अन्य गोपों के साथ आते देखकर और यह समझकर कि कृष्ण बलराम भी उनके साथ लौट आये होंगे उन्हें गोद में उठा लेने के लिए दोनों आतुर होकर ऐसी दीख पड़ीं जैसे गायें अपने बछड़ों के लिए रम्भाती हुई दौड़ती हैं । सूर लिखते हैं :—

बार-बार मग जोवति माता । व्याकुल बिन मोहन बल भ्राता ।।
आवत देखि गोप नन्द साथा । विनि बालक बिन भई अनाथा ।।
धाई धेनु बच्छ जनु ऐसे । माखन बिना रहे धौं कैसे ।।
ब्रज नारी सब हरषित धाई । महरि जहाँ तहँ आतुर आई ।।
हरषित मातु रोहनी आई । उर भर हलधर लेहु कन्हाई ।।
देखे नन्द गोप सब देखे । बल मोहन को तहाँ न पेखे ।।
आतुर मिलन काज ब्रज नारी । सूर मधुपुरी रहे मुरारी ।।
३७४५ । ना० प्र० स०

नन्दहिं आवत देखि जसोदा आगे लेन गई ।
अति आतुर गति कान्ह लेनु को मन आनन्द भई ।।
३७४६ ।

प्रवास से लौटते हुए पुत्रों से मिलन की उत्कण्ठा में माता का हृदय जिस आनन्द एवं अधीरता का अनुभव करता है, उसी का चित्रण ऊपर उद्धृत पदों में हुआ है।

सूरसागर में इस प्रवासगत वियोग वात्सल्य का दूसरा उदाहरण उस समय का है जब श्री कृष्ण द्वारिका वासियों के साथ सूर्य ग्रहण के पर्व पर कुरु-क्षेत्र स्नान पर आये और नन्द तथा यशोदा को कुरुक्षेत्र बुलाने के लिए सन्देश भेजा। माधव के आगमन की बात सुनकर गोपियों के वाम नेत्र फड़कने लगे और अंचल उड़ने के साथ मन में अधीरताजन्य उथल-पुथल होने लगी। वसन्त ऋतु के समान वृक्षों पर नवीन पत्ते आ गये, वेलें विकसित होने लगीं।
यश सन्देशबाहक ने माँ यशोदा से कहा कि श्री कृष्ण ने केवल तुम्हारे कारण ही मुझे यहाँ भेजा है। द्वारिका में राज्य वैभव होते हुए भी उन्हें जब तुम्हारे खान पान परिधान तथा अन्य समस्त सुख प्रदान सम्बन्धी लाड़ प्यार का स्मरण आता है, तो उन्हें कुछ अच्छा नहीं लगता है। तुम्हारे स्नेह की स्मृति में वे वियुक्त के बछड़े के समान दौड़ते हुये कुरुक्षेत्र तक आ गये हैं।[2]

> नन्द जसोदा सब व्रजवासी।
> अपने-अपने सकट साजि कै मिलन चले अविनासी।।
> कोउ गावत कोउ बेनु बजावत कोउ उतावल धावत।
> हरि दरसन की आसा कारन विविध मुदित सब आवत।।
> ४९०० ।

श्री कृष्ण का आगमन उन्हें स्वप्न और सत्य के बीच की परिस्थिति का सा प्रेमानन्द देने लगा।

(४) **करुण वियोग वात्सल्य**—करुण वियोग की निष्पत्ति सन्तति पर आये हुए घोर अनिष्ट की आशंका से होती है। जब कमल लेने के लिये श्री कृष्ण कालीदह में कूद पड़े और प्रातः से मध्याह्न तक नहीं निकले (प्रातहि ते जल भीतर पैठे होन लग्यो जुग जाम ११८०) तब यशोदा किसी अनिष्ट की आशंका से अधीर और व्याकुल हो उठीं। वह कन्हैया-कन्हैया पुकारती हुयी

१— पद ४८९५ ना० प्र० स०
२— पद ४८९६ ना० प्र० स०

यमुना तक पहुँची। आगे देखा बलराम तो खड़े हैं, पर उनके साथ कृष्ण नहीं हैं, यशोदा बलराम से कृष्ण के सम्बन्ध में पूँछने लगीं। बलराम ने कहा कि कृष्ण अभी आते हैं, तुम धैर्य धरो, तो यशोदा के अनिष्ट भीरु तथा आतंकित हृदय ने समझा कि बलराम उसे समझा रहे हैं, और कृष्ण किसी घोर संकट में ग्रसित हैं, ऐसा समझकर वह अपने (बाल कन्हैया) की याद में मूर्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ीं। सूर ने लिखा है :—

जसुमति हेरत कुँवर कन्हैया।
आगे देखि कहत बलरामहि कहाँ रह्यौ तुव भैया॥
मेरो भइया आवत अबहीं तोहिं दिखाऊँ मैया।
धीरज धरहु नैकु तुम देखहु यह सुनि लेत बलैया॥
पुनि यह कहत मोहि परबोधत धरनि गिरी मुरझैया।
सूर बिना सुत भइ अति व्याकुल मेरो बाल कन्हैया॥
११७८।

इसी प्रसंग में सूर ने आगे एक बृहत गीत (पद संख्या १२०७ ना० प्र० स०) में बढ़ाकर लिखा है। इस गीत की कुछ पंक्तियां नीचे दी जाती हैं—

यहि अन्तर सब सखा जाइ ब्रजनन्द सुनायौ।
हम संग खेलत स्याम जाइ जल माँझ धसायौ॥
बूड़ि गयौ उचक्यौ नहीं ता बातहि भइ बेर।
कूदि पर्यौ चढ़ि कदम तैं खबरि न करौ सबेर॥
त्राहि-त्राहि करि नन्द तुरत दौरे जमुना तट।
जसुमत सुनि यह बात चली रोवत तोरत लट॥
ब्रजवासी नर नारि सब गिरत परत चले धाइ।
बूड़्यो कान्ह सुनी सबनि अति व्याकुल मुरझाइ॥
जहँ तहँ रही पुकारि कान्ह बिनु भये उदासी।
कौन काहिसो कहे अतिहि व्याकुल ब्रजवासी॥
नन्द जशोदा अति विकल परत जमुन में धाइ।
और गोप उपनन्द मिलि बाँह पकरि लै आइ॥
धेनु फिरत बिललाति बच्छ थनु कोउ न लगावै।
नन्द यशोदा कहत कान्ह बिनु कौन चरावै॥
यह सुनि ब्रजवाली सबै परैं धरनि अकुलाइ।
हाय-हाय कर कहत सब कान्ह रह्यो कँह जाइ॥

नन्द पुकारत रोइ बुढ़ाई में मोहि छाड़्यो।
कुछ दिन मोइ जाइ जल भीतर मार्यो॥
यह कहि कै धरनी गिरत ज्यों तरु कटि गिरि जाय।

सूर के वियोग वात्सल्य में एकादश अवस्थाओं में से कुछ अवस्थाओं का वर्णन आ गया है। नीचे इसके उदाहरण दिये जाते हैं :—

अभिलाषा— कहाँ हो ऐसे ही मरि जैहौं।
यहि आँगन गोपाल लाल को कबहुँक कनियाँ लैहौं॥
कब वह मुख बहुरो देखौंगी अब वैसे सचुपैहौं।
कब मोपै माखन मागेंगे कब रोटी धरि दैहौं॥
३६२९।

चिन्ता— मेरो कहा करत ह्वै है।
कहियो जाय बेगि पठवैं, गृह गायन को दुइहै। ३७९२॥
सूर पथिक सुनु मोहिं रैन दिन बढ़्यो रहत उर सोच।
मेरो अलख लड़ैतो मोहन ह्वै है करत संकोच। ३७९३॥

स्मरण— है कोउ ऐसी भाँति दिखावै।
किंकिन सब्द चलत धुनि रुनि झुनि ठुमुकि-ठुमुकि गृह आवै।
कछुक विलास वदन की सोभा अरुन कोटि गति पावै।
कंचन मुकुट कंठ मुक्तावलि मोर पंख छवि छावै॥
धूसर धूर अंग-अग लीन्हें ग्वाल बाल सग लागै।
३६२८।

स्मरण गुण कथन में ही आ जाता है, फिर भी उसका एक उदाहरण देखिये :—

गुण कथन— को कर कमल मथानी धरि है को माखन अरि खैहै।
बरसत मेघ बहुरि ब्रज ऊपर को गिरिवर कर लैहै॥
३८९२।

व्याधि— पन्थी इतनी कहियो बात।
तुम बिनु यहाँ कुँवर वर मेरे होत जिते उत्पात॥
बली अघासुर टरत न टारत बालक बनहिं न जात।
गोपी सकल लघु दीरघ पीत बरन कृस गात। ३७८९॥
विह्वल भई जसोदा डोलत दुखित नन्द उपनन्द।
धेनु नहीं पय स्रवत रुचिर मुख चरत नहीं तृन कन्द॥
३७७५।

जड़ता— नहिं कोउ स्यामहिं राखै जाइ ।
सुफलक सुत बैरी भयो मो कहुँ कहत जसोदा माइ ।।
मदन गुपाल बिना घर आंगन गोकुल काहि सुहाइ ।
गोपी रही ठगी सी ठाढ़ी कछू ठमौरा खाइ ।।
३५९० ।

प्रीति जानि, हेत, मानि बिलखि वदन ठाढ़ी ।
मानहु वै अति विचित्र, चित्र लिखी काढ़ी । ३५७७ ।।

मूर्छा और मरण—सूरदास प्रभु पैठे मधुपुरी मुरझि परी ब्रजवाल । ३६१७ ।।
स्याम गये जल बूड़ि बृथाधिक जीवन जंग कौ ।
सिर फोरति गिरि जाति अभूखनि तोरति अंग कौ ।।
मुरछि तन सुधि गई प्रान रहे कहुँ जाइ ।
हलधर आये धाइ कै, जननि गई मुरझाइ । १२०७ ।।

उद्वेग— ब्रज की नारि गृह विसारि व्याकुल उठि धाइ ।
समाचार बूझन कौ आतुर ह्वै आइ । ३५७० ।।
विदरत नाहिं ब्रज को हिरदय हरि वियोग को सइहै ।
सूरदास प्रभु कमल नयन बिनु कौन बिधि ब्रज रहहै । ३७८४ ।।

प्रलाप— अब हौ जाइ जमुन जल बहि, हौं कहा करौं मोहि राखी ।
सूरदास वा भाइ फिरति हौ ज्यों मधु तोरें माखी ।।
३७८७ ।।

दशम् अध्याय

सूरदास का हृदय

श्रुति भगवती सहृदयं सांमनस्यम् का आदर्श मानव समाज के समक्ष प्रस्तुत करती है। सूरसागर द्वारा सूरदास ने इस आदर्श को चरितार्थ करके दिखा दिया है। गोपियों का जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण है। सबकी सब समान मन वाली और समान हृदय वाली हैं। सबके मन में रूप की राशि शील की राशि, गुण की राशि, निखिल गुणागान श्रीकृष्ण रम रहे हैं। सबके हृदयों में उसी एक की चाह है। न उसके मन कहीं अन्यत्र जाते हैं और न हृदय। एक ही में सब डूबे हुए हैं। संयोग के समय जो क्रीड़ा है, अनुरक्ति है, निविड़, स्निग्धता है, वियोग के समय भी कृष्ण मग्नता के कारण वह वैसी ही हैं। रूपान्तर उसे परिवर्तित नहीं कर पाया। उत्फल्लता के स्थान पर जो विषाद है वह परिस्थितिजन्य है परन्तु हृदय एवं मन में परिवर्तन नहीं है। दोनों क्षेत्र ऊपर से तल तक, अनुभूति से निगूढ़तम शून्य तक कृष्ण प्रेम के कारण ऐसे सागर हैं जिनका न तो विस्तार में कोई वारापार है और न गम्भीरता में। रस की यही दशा है। रस रीति को जैसा गोपियों ने पहिचाना वैसा किसी अन्य के भाग्य में नहीं बदा था। रस रीति और लोक-लीक दोनों एक दूसरे की विरोधिनी है। लोक लीक सामाजिक मर्यादा में है।

तुलसी इसका भक्त है। सूर का हृदय इस मर्यादा से ऊपर है। वह स्वाधीन पुष्टि अवस्था में विचरण करने वाला है। हृदय के गह्वरतम प्रदेश में यह लीक लुप्त हो जाती है। सामाजिक मर्यादा के बन्धन भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। विधि विधान एक ओर पड़े रहते हैं। रस रीत में प्रवेश करते ही एक अमर्यादित अथाह किन्तु प्रशाँत भाव सागर आ उपस्थित होता है। भाव की

इस प्रगल्भ भूमिका में अनुरक्ति अपनी चरम सीमा पर होती है, जो साधक और साध्य दोनों को एक करने वाली है। सूर लिखते हैं:—

सबतें परम मनोहर गोपी।
नन्द-नन्दन के नेह मेह जिन, लोक लीक लोपी।
वरु कुबिजा के रंगहिं रांचे, जदपि तजी सोपी।
तदपि न तजे भजे निसि वासर, नैकेहुँ नहिं कोपी।
ज्ञान कथा को मथि मन देख्यौ, ऊधौ बहु धोपी।
हरति घरी छिन नैकु न अंखियाँ स्याम रूप रोपी।
जिती हुती हरि के अवगुन की, ते सबही तोपी।
सूरदास प्रभु प्रेम हैक ज्यौ अभिक ओप ओपी।४७६६।

गोपिकायें सौन्दर्य में सर्वातिशायी हैं। उनका यह सौन्दर्य बाहर से भीतर तक गया है। अथवा भीतर से बाहर तक आया है। उनकी आत्मा सुन्दर है। उनका मन सुन्दर है। उनका शरीर सुन्दर है। इस सौन्दर्य में चतुर्दिक रस विकीर्णकारी स्निग्धता है। मन का सौन्दर्य हृदय प्रसूत होता है। मन वैसे भी हृत्प्रतिष्ठ है (हृतप्रतिष्ठयद् गिरम् गविष्ठम्) शरीरिक सौन्दर्य पर इसी हृत्प्रसूत मन की छाया पड़ती है। अतः जब कोई मन्त्र हृदय से तष्ट होकर हृदायत्तष्ठान हृदय की शान पर चढ़कर निशित होकर निकलता है तब उसका प्रभाव अदम्य तथा अप्रतिहत होता है। गोपियों का अनुराग तपा हुआ स्वर्ण था। वह आत्मा से अनुभूत हुआ था, नन्द नन्दन कृष्ण के प्रति सब कृषक आनन्दधाम के प्रति उनके स्नेह की जो वर्षा ब्रज में हुयी, उसने वर्षा की ही भांति सामाजिकता की पगडन्डियों को ऐसा लुप्त कर दिया कि ब्रज में कहीं भी अस्तित्व सार्थक करती हुई नहीं जान पढ़ती थीं। कृष्ण कुब्जा के भी बने उसके राग में भी अनुरक्त हुए फिर भी वह गोपिकाओं के ही बने रहे। गोपिकायें दिन रात कोप के स्थान पर हृदय से उन्हीं का भजन करती हैं। उद्धव ने बहुत प्रयत्न करके ज्ञान कथा के मन्थन द्वारा उनके मन पर प्रभाव डालना चाहा, पर गोपिकाओं का मन तो हृतप्रतिष्ठ था, कृष्णार्थ अथवा आत्मस्थ था। इनकी आँखें स्यामरूप से क्षण भर के लिए भी पृथक न हो सकीं। अपस, अथवा लोहा स्पर्श अथवा पारस पत्थर में लगते ही जैसे स्वर्ण बन जाता है, और स्वर्ण अग्नि में तपने से जैसे कुन्दन बन जाता है, जिसकी ओक अदब्ध होती हैं, वैसी ही गोपिकायें साधन के चरम शिखर पर स्थित अदब्ध अनुराग का अनुभव कर रही थीं। लोल-लीक उनके समक्ष सत्ता से शून्य हो गयी थी।

गोपिकायें जिस स्थिति में थीं उसमें ज्ञान नीचे रहता है, जैसे रचना में द्यौसे ऊपर समुद्र है, अथवा रचना का मूल श्रोत है, वैसे ही ज्ञान से ऊपर

भाव है। रस का यह समुद्र सिद्धान्तवादिता तर्क और चिंतन सबसे परे है। ज्ञान की चरम शिखा इस समुद्र में डूब जाती है। वेद के शब्दों में (मूर्धानमस्य संसीव्या अथर्वा हृदयं च यत) मूर्धा और हृदय, ज्ञान और भाव, जहाँ एक दूसरे में मिले हुये दिखाई देते हैं, यह ज्ञान भी रस रूप प्रभु का ज्ञान है, प्रभु की प्राप्ति और प्राकृतिक विज्ञान से परे है। उद्धव इसीलिये कहते हैं—

> माधौ जी में अति हरि सचुपायौ।
> अपनो जानि संदेश व्याज कहि ब्रज जन मिलन पठायौ॥
> छमा करौ तौ करौ बीनती उनहिं देखि जो आयौ।
> श्री मुख ज्ञान पन्थ जौ उचरयौ सो पै कछु न सुहायौ॥
> सकल निगम सिद्धान्त जन्म क्रम स्यामा सहज सुनायौ।
> नहिं सुति, सेष महेस, प्रजापति जो रस गोपिन गायौ॥
> कटुक कथा लागी मोहि मेरी वै रस सिन्धु उम्हायौ।
> हम तुम देखै और भाँति में सकल तृषा जु बुझायौ॥
> तुम्हरी अकथ कथा तुम जानौ हम जन नाहि बसायौ।
> सूर स्याम सुन्दर यह सुनिकै नैनन नीर बहायौ॥ ४७६९॥

माधव आपने मुझे ब्रज में क्या भेजा, मानो सन्देश के व्याज से आपने मुझे अपना समझ कर ही गोपियों के हृदय रूपी रस सिन्धु का साक्षात करने के लिए ही वहाँ भेजा। ज्ञान का पन्थ इस रस सिन्धु में जाकर सूख गया। राधा का दर्शन निगमागम के श्रोत का दर्शन था। गोपिकायों ने जिस रस को उपलब्ध किया है, उसके समक्ष ज्ञानियों और ध्यानियों ज्ञान महात्म्य की कथायें कड़वी प्रतीत होती हैं। मैंने गोपिकाओं के रूप में दर्शन अन्य प्रकार से किये। मेरी समस्त तृषा जाती रही। रसोवैशः का स्पष्ट चित्र मेरी हृदय रूपी चक्षुओं के प्रति स्पष्ट हो गया, और आनन्द प्राप्त हुआ। वह वर्णन शक्ति की सीमा में नहीं आता है।

उद्धव के मुख से गोपिकाओं की रस दशा का वर्णन सुनते ही कृष्ण का हृदय स्मरण की तीव्रता से ओत-प्रोत हो गया। ब्रज भी कहीं भूलने के योग्य है। जिस भूमि पर भक्ति भावना के स्यामल मेघ उमड़ घुमड़ कार रस वर्षा करते रहे हों, जिससे प्रवेश करते ही मानव आज भी भाव विभोर हो उठे, जिसके रजकणों में, जिसके वातावरण में रसमयी तरंगें क्रीड़ा कर रही हों, वह वन्दनीय ब्रजभूमि, हंस सुता सूर, कुमारी, यमुना की सुन्दर कगार, कलित कुंजों की छाया, हरीतिमा मण्डित करीलों के सुहावन दृश्य, पलास

मालाओं की लालिमा, गायों और बछड़ों के साथ कोलाहल करती हुयी ग्वाल बाल मण्डली, निखरी हुयी धवल, ज्योत्स्ना, अरुणरामरंजिता ऊषायें जिसने एक बार देख ली, वह सदैव के लिये उसमें समा गया। सूरदास तो ब्रजवासी ही थे, अपने इष्टदेव के मुख से 'ऊधौ मोहि ब्रज विसरत नाहीं ।।' ४७७५ ।।

कहलाकार मानों वे अपने ही हृदय का परिचय दे रहे हैं। उन्होंने ब्रज का इसी के शब्दों में स्तवन किया है:—

और विनोद कहाँ लौ बरनौ वरनत वरन न जाहीं ।
जदपि सुखनिधान द्वारावति गोकुल के सम नाहीं ।।
४८९० ।।

सरस सुगन्ध मन्द मलयानिल बिहरत कुन्जन माहिं ।
जो क्रीड़ा श्री बृन्दावन में तिहूं लोक में नाहिं ।। ४८९१ ।।

पद संख्या ४७७७ में सूर ने एक गोपनीय वास्तविकता का उल्लेख किया है। भक्ति के क्षेत्र में यह उक्ति प्रख्यात है, कि जो प्रभु को नहीं भूलता उसे प्रभु भी नहीं भुलाते। जो प्रभु को भजता है उसे प्रभु भी भजते हैं। जो आनन्द सिन्धु के निकट रहता है उसे आनन्द प्राप्त होगा ही। जो प्रभु का है, प्रभु भी उसी का है। अतएव 'जो मोहि भजै, भजौं मैं ताकहुं, यह परिमिति मेरे पांय परी—यह गुप्त कथ्य का ही उद्‌घाटन है।

रास की इस रीति का समर्थन सुदामा ने भी निम्नांकित पद में किया है:—

और को जानै रस की रीति ।
कहँ हो दीन कहाँ त्रिभुवन पति मिले पुरातन प्रीति ।।
चतुरानन तन निमिष नचितवत इती राज की नीति ।
मोसौं बात कहत हिरदय की गये जाहि जग बीति ।।
बिनु गोबिन्द सकल सुख सुन्दरि, ज्यौं भुस पर भीति ।
हौं कह कहौं सूर के प्रभु की निगम करत है कीति ।।
४८६१ ।।

रस की इस रीति को और कौन समझ सकता है। जो पुरातन है फिर भी नित नूतन है, वही पुराण (पुरानवोभवति) की सत्यता का साक्षी

बन सकता है। राजनियम बड़े कठोर होते हैं। सहृदयता का उनके साथ बैर है। इस कठोरता में भी जो सरल बना रहे, नियम बद्धता में भी जो सहृदयता का संरक्षण कर सके, वह धन्य है। उसी के साथ रहने में सुख है। उसमें बिना सुख की बात भुस पर उठाई भित्ति के समान निराधार है। वेद न जाने कब से इसी तथ्य की घोषणा करता आया है '(मस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति)'।

सूर का हृदय तो था ही और वह भी सामान्य नहीं उच्चकोटि का। तभी तो उनकी रचना में न जाने कितने ऐसे उद्‌गार स्वमेव आ गये हैं जो सिद्धि प्राप्ति की सूचना देने वाले हैं। इसे हम सिद्धावस्था तो नहीं, परन्तु उसके निकट की अवस्था अवश्य कहेंगे। निम्नांकित पद पर विचार कीजिये:—

माधव आवनहार भये।
अंचल उड़ि मनहोत गह गहौ फरकत नैन खए।
वेई देखि सोचि जिय अपनै परगट समुन दए।
रितु बसंत फूली बन बेली उलटे पात नए।
अपनी-अपनी अवधि जान कै सवनि सिंगार ठए।
सूरदास को मिलौ, कृपा करि अवध आस सुजए।४८९५।

इस पद में साधारण घटनाओं का संकेत इसलिए घटित नहीं होगा क्योंकि उसका आधार फलक व्यापक है साँसारिक जीवन की घटना होती तो उसकी सीमाएं संकुचित होती और कि वे एक ही व्यक्ति अथवा परिवार के साथ सम्बद्ध होती तब तो माधव के आगमन की सूचना दे रहा है। यह मा निरिवलि मिति या माय का धव = पति है, मिति प्रकृति है और यह प्रकृति अपरा तक्ष परा दो प्रकार की है सकुनों का प्रकट होना दोनों ओर है। अपरा प्रकृति में बसन्त ऋतु में छा रही है, बन की बेलियाँ प्रफुल्लित हो रही है, फूलों से लही है, नवीन कोयले विकल रहीं हैं पराप्रकृति के क्षीण नेत्र फड़कने लगे हैं, मन में उत्साह उमड़ने लगा है, ऐसा प्रतीत होता हैं जैसे सबके लिए शुभागमन की कोई अवधि पूर्व से ही निश्चित थी। तभी तो सब शृंगार सज्जित होने लगे हैं। उमड़ती हुई उमंगे उनके प्रिय-आगमन की सूचना दे दे रही है। सूरदास के हृदय ने भी इन संकेतों का कभी अनुभन किया होगा।

साँसरिकता के प्रसंग में रुक्मिणी और राधा के सतकुलोद्भव महिलायें है। सूर ने भेट के समय दोनों को एक ही पिता की पुत्रियों के तुल्य माना

है। दोनों समान वय हैं, समान स्वभाव है और समान रूप से दोनों ही हरि की प्रिया हैं। शरीर से दो दिखाई देते हैं पर प्राण और मन से एक हैं। पद सं० ४९०९ ॥

आध्यात्मिक दृष्टि से देखें तो रुक्मिणी और राधा दोनों ही उन्नत चेतातना की विधायें जान पड़ेगीं जो वय में तो समान होती हैं, स्वभाव में भी समान बन गयी हैं। विधायों के रूप भले ही भिन्न हों पर जहाँ तक चेतना और जीवन का प्रश्न है दोनों में कोई अन्तर नहीं है अतः साधना गत उपलब्धि के वर्णन में भी सूर की पदावली अत्यन्त समर्थ है। जीव और ब्रह्म के मिलने का एक दृश्य देखिये ।

> राधा माधव भेट भई ।
> राधा माधव, माधव राधा कीट भृंग गति ह्वै जू गई॥
> माधव राधा के रंग रांचे, राधा माधव रंग रही ।
> माधव राधा प्रीति निरन्तर रसना कहि सो कहि न गही ।४९१०।

राधा जीव है तो माधव ब्रह्म। राधा शक्ति है तो माधव शक्तिमान- राधा ज्योत्स्ना है तो माधव चन्द्र, राधा प्रभा है तो माधव सूर्य। आदि शक्ति-शक्तिमान के साथ है। ज्योत्स्ना में चन्द्र और घन में विद्युत और विद्युत में घन, प्रभा में सूर्य और सूर्य में प्रभा के संयोग का दृश्य उपस्थिति हो रहा है। राधा माधव के अनुराग में पगी है और माधव राधा के रंग में रम रहे हैं यद्यपि दोनों का प्रेम शाश्वत है पर आय तो वह अभिनव रूप से अभिव्यक्त हो रहा है जैसे भृंगी कीड़ा पतग को अपने का बना लेता है तैसे ही माधव ने राधा को, राधा ने माधव को अपने रंग में रंग लिया है जीव और ब्रह्म मिल-कर दोनों एक हो रहे हैं और वेद की इस ऋचा के आर्शीवाद को सत्य सिद्ध कर रहे हैं:—

> यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा धा स्यामहम् ।
> स्युष्टे, सत्या इहाशिषः ।

सिद्धों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे यथा कामरूप धारण कर लेते हैं इसका अर्थ यही है, कि उनकी चेतना व्यापक चेतना के साथ एक हो जाती है। उनका प्राण समष्टि गत प्राण के साथ और उनकी बुद्धि महत्तत्व के साथ एक होकर इतने विशाल, सत्व सम्पन्न हो जाते हैं कि वे जिस रूप को चाहें ग्रहण कर सकते हैं।

सूर का हृदय कुछ ऐसा ही सिद्धों का सा हृदय था। उसने मातृ हृदय में प्रवेश करना चाहा तो माता बन गया, बाल हृदय में प्रवेश करना चाहा तो बालक बन गया। इसी प्रकार वह कहीं सखा रूप में दिखाई देता है, कहीं वीर रूप में, कहीं रौद्र एवं भयानक रूप में, कहीं ज्ञानी रूप में, तो कहीं भक्त रूप में, कहीं विदग्ध रूप में, तो कहीं सरल रूप में, कहीं हास–रूप में, तो कहीं करुण रूप में, कहीं दीन रूप में, कहीं समर्थ सिद्ध रूप में। सूर हृदय की यह विशालता सामान्य मानव से बहुत ऊँचा उठा देती है।

सूर को गोस्वामी विट्ठल नाथ पुष्टि मार्ग का जहाज कहा करते थे। जहाज समुद्र में तैरता है। सूर भवसागर के अनुभवी तैराक थे। जहाज पार लगाता है। सूरदास ने भी नन्द दास और कृष्ण दास ही नहीं, अनेक साधकों की अपनी रचनाओं द्वारा पार लगाया है। तन्मयता भरति सूर की पदावलि ने न जाने कितने भक्तों को भक्त-भाव में तन्मय नहीं कर दिया? उनकी आत्म-समर्पण शक्ति ने अनेक सन्तों को सर्वस्वसमर्पण के लिए कटिबद्ध कर दिया। उनकी व्यंजनाओं ने अनेकों को विदग्ध बचन चातुर्य से मण्डित कर दिया और उनकी काया कल्प अनेक सहवर्गियों को कायापरिवर्तन के योग्य बना दिया। सूर की इस शक्ति को इस प्राण को, इस हृदय को, इस आत्मा को कोटिशः प्रणाम है।

एकादश अध्याय

लीलातत्व

जैसा पीछे लिखा जा चुका है, पुष्टिमार्गीय भक्ति की विशेषता हरि-लीला में चरितार्थ होती है। हरिलीला रसमयी है, आनन्दमयी है, परन्तु भक्त भगवान के जिस रूप की जब और जिस प्रकार भावना करते हैं, भगवान उसी रूप में उस समय प्रकट होकर अपने भक्ति की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं। प्रभु के इस रूप को वेद ने वृषम (वर्षक) और वृषव्रत कहकर पुकारा है। प्रभु का यह स्वभाव है, विरद और बाना है कि वे भक्त के मनोरथ को सफल करते हैं, उसके ऊपर शाँति और सुख की वर्षा करते हैं। वैष्णव भावना के अनुसार लीलामय श्रीकृष्ण अपने वासुदेव, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध एवम् संकर्षण, व्यूहों से ब्रज में प्रकट हुए थे और इन रूपों द्वारा उन्होंने मोक्ष, वंश-वृद्धि, धर्मोपदेश तथा संहार-कार्य किए थे। इन कार्यों के साथ भक्तों की अभिलाषायें जुड़ी हुई हैं।

श्रीमद् भागवत द्वितीय स्कन्ध, दशम अध्याय के प्रथम दो श्लोकों में सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, देशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय इन दश विषयों का वर्णन है। इन्हें हम हरिलीला के ही दश भेद कह सकते हैं। इनमें प्रथम पाँच भगवदन्वय रूप हैं। इनमें भगवान कारण रूप से रहते हुए लीलायें करते हैं। अन्तिम पाँच में भगवान भिन्न रूप से दिखाई देते हैं। अतः वे लीलाएं व्यतिरेक वाली कहलाती हैं। आचार्य वल्लभ ने इस स्थल के सुबोधिनी भाष्य में इन दशविध लीलाओं की व्याख्या इस प्रकार की है:—

अशरीरस्य विष्णोः पुरुष शरीर स्वीकारः सर्गः, पुरुषाद् ब्रह्मादीना-मुत्पत्तिः विसर्गः उत्पन्नानाँ तत्तन्मर्यादया पालनं स्थानम्, स्थितानामभिवृद्धिः पोषणं, पुष्टानामाचार ऊतिः तत्रापि सदाचारो मन्वन्तरम् तत्रापि विष्णु भक्ति रीशानुकथा, भक्तानां प्रपञ्चाभावो निरोधः, निष्प्रपञ्चानां स्वरूपलाभो मुक्तिः, मुक्तानां ब्रह्मास्वरूपेण अवस्थानम् आश्रयः।

अशरीरी विष्णु का पुरुष शरीर धारण करना सर्ग है। सर्ग रचना को कहते हैं। यह रचना दो प्रकार की है: अलौकिक और लौकिक। त्रिगुणातीत लीला अलौकिक है, लौकिक सर्ग-लीला अट्ठाईस तत्व आदि की उत्पत्ति है। आचार्य वल्लभ ने 'सदशेन जडा अपि', तथा 'अष्टाविंशति तत्वानां स्वरूप यत्र वै हरिः'कहकर इस जगत को, रचना को. प्रभु का ही शरीर धारण करना माना है। रचना के समय इसका आविर्भाव और प्रलय के समय तिरोभाव होता रहता है। रचना के पश्चात् जो ब्रह्मा आदि की उत्पत्ति होती है और उनके द्वारा जो कार्य होता है, उसे विसर्ग कहते हैं। जो उत्पन्न हुए हैं (पृथ्वी आदि), वे अपनी-अपनी मर्यादा में रहते हैं, यही स्थान है। स्थितों की अभिवृद्धि पोषण है। यह भगवत्कृपा-साध्य है। अतः पोषण को भगवान का अनुग्रह भी कहा गया है। भगवान के अनुग्रह से पुष्ट जीवों का (तथा अन्यों का भी) आचार ऊति कहलाता है। यह आचार भगवन्य होता है इसमें जीव कृष्ण-वासना-प्रधान हो जाते हैं। सदाचार अर्थात् अच्छे आचार की प्रवृति को मन्वन्तर कहते हैं। ईशानुकथा भगवद् भक्ति-परक कथाओं का नाम है। भक्तों के अन्दर प्रपञ्च का अभाव, मेरे-तेरे-पन रूप संसार का विनाश ही निरोध है। प्रपञ्च-विहीन जीवों का स्वरूप-लाभ या कृष्ण-प्राप्ति ही मुक्ति है, और ब्रह्मस्वरूप में अवस्थिति का नाम ही आश्रय है।

महात्मा सूरदास ने इसी आधार पर नीचे लिखे पद में दश-विधि लीलाओं के नाम और उनकी व्याख्या दी है:—

श्री भागवत सकल गुन खानि।
सर्ग, विसर्ग, स्थान अरु पोषण, ऊति मन्वन्तर जानि,
ईश, प्रलय, मुक्ति आश्रय पुनि ये दस लक्षन होय।
उत्पति तत्व सर्ग सो जानो, ब्रह्माकृता विसर्ग है सोय॥
कृष्ण अनुग्रह पोषण कहिए, कृष्ण वासना ऊति ही मानों।
आछे धर्मन की प्रवृत्ति जो, सो मन्वन्तर जानों॥
हरि हरिजन की कथा होय जहाँ सो ईशानु ही मानु।

जीव स्वतः हरि ही मति धारै सो निरोध हिय जानु।
तजि अभिमान कृष्ण जो पावै सोई मुक्ति कहावै।
सूरदास हरि की लीला लखि कृष्ण रूप ह्वै जावै।

सूरदास कहते हैं:—अभिमान छोड़कर यदि जीव इस भगवल्लीला के दर्शन कर सके, तो वह कृष्ण रूप हो जाता है। आचार्य वल्लभ ने इस हरि-लीला को नित्य और वर्षोत्सव पर्वों के रूप में प्रतिष्ठित किया था। नित्य की भावना में श्रीकृष्ण नन्द-भवन में बाल-भाव से और निकुञ्ज में किशोर-भाव से प्रातःकाल से लेकर शयन-पर्यन्त नाना प्रकार की रसमयी लीलाएं करते हैं। वर्षोत्सव पर्वों की भावना में षड्ऋतु आदि की लीलायें सन्निविष्ट हैं, जिनका उल्लेख विगत अध्याय में हो चुका है। ये लीलायें श्रीकृष्ण के जन्म-समय अर्थात् जन्माष्टमी से प्रारम्भ होती हैं। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, ये लीलायें नित्य और आनन्दमयी हैं। आनन्दमयता के दोनों पक्ष, साधन-पक्ष और साध्य-पक्ष, इनके अंतरगत आते हैं। आगामी प्रकरणों में इन बहु विधि लीलाओं में से हमने केवल सात लीलाओं का वर्णन किया है, जिनमें रासलीला, मुरली, गोपियाँ, माखन-चोरी और चीरहरण साध्य-पक्ष के अन्दर हैं तथा शेष दो दावानलपान और असुरबध नाम की लीलायें साधन-पक्ष में आती हैं। दुष्टता एवम् दुष्टों का विनाश, असुर-बध, अन्त में आनन्दमय परिणाम को ही प्रकट करता है। रासलीला आदि स्वतः स्वरूप से ही आनन्द मय हैं। भगवल्लीला में उभय पक्षों का समन्वय है। अतः उसके इन दोनों पक्षों के प्रमुख रूपों का उल्लेख आगामी सात प्रकरणों में किया जायगा।

रासलीला

रास शब्द रस से बना है। रसौ वै सः, अर्थात् भगवान स्वयं रसरूप हैं, आनन्द रूप हैं। उपनिषद में कहा है: आनन्द रूप प्रभु से समस्त प्राणी प्रकट हुए हैं। यह रसरूप ब्रह्म केन्द्र है और उसकी परिधि है ब्रह्माँड का यह चक्र, जिसे उसकी लीला कहा जाता है। कहाँ तो वैष्णव भक्ति का आचार्यों द्वारा वर्णित यह आनन्द रूप जिसके मूल में आनन्द और परिणाम में भी आनन्द; और कहाँ ईसाइयों का वह घोर दुःखवाद एवं पाप-बोध की भावना !! मालूम नहीं पाश्चात्य विद्वानों ने भागवत भक्ति को ईसाइयों की प्रायश्चित वाली भावना से कैसे मिला दिया ? एखार्ट नामक ईसाई सन्त ने ईसाइयों की आध्यात्मिकता-प्रिय वृत्ति को शास्त्र-समस्त रूप अवश्य दिया था, जिसमें पापबोध, संस्कारों का सुधार, पवित्रीकरण, महनीय भाव की अनुभूति और अन्त में प्रभु के साथ तादात्म्य भाव की प्रधानता थी; परन्तु ईसाइयों का

का यह भाव वैष्णव धर्म की आनन्द-भावना से एकदम विपरीत है। वैष्णवों की रासलीला इसी आनन्द-भावना के अनुभव करने का नाम है।

बंगीय विद्वानों ने जहाँ वैष्णव भक्ति की विवेचना के आधार पर वैज्ञानिक रूप दिया है, वहाँ उन्होंने रासलीला को भी विज्ञान-समस्त सिद्ध किया है। इन विद्वानों की सम्मति में, बाह्य जगत में, भौतिक विज्ञान द्वारा अनुमोदित, आकर्षण का एक नियम पाया जाता है। इस अनन्त आकाश में अनेक सूर्य हैं। एक-एक सूर्य के साथ कई ग्रह और उपग्रह लगे हुए हैं। सूर्य केन्द्र में है और वे समस्त ग्रह-उपग्रह उसके चारो ओर चक्कर लगा रहे हैं। आकर्षण की शक्ति इनको परस्पर सम्बद्ध किए हैं, इधर-उधर गिरने नहीं देती। रासलीला में कृष्ण केन्द्रस्थ सूर्य हैं; राधा तथा अन्य गोपियाँ ग्रह और उपग्रहों के रूप में हैं।

इस विचार से अद्भुत एक और विचार है। भौतिक शास्त्र के आधुनिक अनुसंधानकर्त्ताओं ने अपनी गवेषणा द्वारा सिद्ध किया है कि प्रकृति का एक-एक अणु कई शक्तियों के समूह का नाम है। अणु का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि उसके बीच में एक केन्द्र बिन्दु है, जिसके चारों ओर अनेक गति और प्रगति के तार चक्कर काट रहे हैं। इनमें अनन्त लहरें और अपरमित कम्पन हैं। रासलीला में वह केन्द्रीयभूत कृष्ण अपने चारों ओर गोपियों के रूप में ऐसी ही लहरें उत्पन्न कर रहा है।

किसी–किसी विद्वान ने रासलीला का वर्णन शाश्वत नृत्य की भावना के रूप में किया है। कहते हैं, यही तो शिव का नृत्य है। डम–डम डमरू की ध्वनि इस आकाश में फैली हुई अनन्त शब्द-–ध्वनियाँ हैं और शिव के पदतल की कभी सम और कभी विषम गति लास्य एवं तांडव नाम के नृत्य को जन्म दे रही है। नृत्य का यही शाश्वत रूप रासलीला द्वारा प्रकट किया गया है।

एक विचार और भी रासलीला के साथ सम्बद्ध है, जिसके अनुसार यह लीला शुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र की घटना है। अध्यात्म पक्ष में कृष्ण परमात्मा हैं और राधा तथा गोपियाँ अनेक जीव। वृन्दावन (आचार्य बल्लभ का गोकुल) सहस्र दल कमल है। यहीं तो आत्मा–परमात्मा का मिलन होता है। परन्तु जैसा प्रथम ही कहा जा चुका है, वैष्णव पुष्टिमार्गीय विचारों के अनुकूल आत्मा और परमात्मा मोक्ष में भी भिन्न-भिन्न रहते हैं। मुक्त जीव

परमात्मा के साथ क्रीड़ा करते हैं, उसकी लीला में भाग लेते हैं। गोपिकायें भी रासलीला में कृष्ण के साथ खेल खेलती हैं।

ऊपर लिखे विचारों से कम से कम एक बात अवश्य सिद्ध होती है कि रासलीला एक प्रकार का रूपक है। अमरकोष में विशाखा नक्षत्र का एक नाम राधा भी दिया है। यह नक्षत्र कृतिका नक्षत्र से चौदहवाँ नक्षत्र है। पहले नक्षत्र गणना कृत्तिका नक्षत्र से होती थी। इस गणना के अनुसार विशाखा अर्थात् राधा नक्षत्र ठीक बीच में पड़ता है। वैणव भक्ति में राधा कृष्ण की पूरक शक्ति मानी गई है और रास में सर्वदा कृष्ण के साथ रहती है। अतः रास-मंडल के मध्य में स्थित होने के कारण, कम से कम, रास-मंडल के अनुसार उसका प्रधान स्थान है।

रास में राधा का परकीया रूपः—यह प्रश्न होता है कि लौकिक परिवेश में कृष्ण का राधा के साथ क्या सम्बन्ध है? वह स्वकीया है अथवा परकीया? महाभारत, विष्णु पुराण और हरिवंश पुराण में कृष्ण की स्त्रियों के नाम दिये गये हैं, जिनमें सत्यभामा, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि नाम आते हैं, परन्तु राधा का नाम नहीं आता। राधा को किसी भी प्राचीन ग्रन्थ में कृष्ण की पत्नी नहीं कहा गया है। तो क्या राधा परकीया हैं? सूर ने ऐसा नहीं कहा। उसने अपने सूरसागर में राधा और कृष्ण का विवाह बड़ी धूमधाम के साथ कराया है। परन्तु चैतन्य सम्प्रदाय में राधा को परकीया ही माना गया है। यही नहीं, वंगीय वैष्णव शाखा में परकीया प्रेम को सर्वक्षेष्ठ स्थान दिया गया है। इसे प्रेम की चरम सीमा माना गया है। कतिपय विद्वानों ने इसमें परकीया प्रेम का मूल ऋग्वेद तक में ढूंढ़ निकाला है और उसको दर्शन की आधार भूमि पर ला खड़ा किया है। इस पक्ष के विद्वान हैं कि ईसवी सन् के आसपास शाक्तों का एक सम्प्रदाय पराशक्ति की उपासना स्त्री रूप में करता था। त्रिपुर सुन्दरी के साथ घुलमिल जाना इनकी साधना का अन्तिम लक्ष्य था। इसी शक्ति के नाम बौद्धों में प्रज्ञा पारमिता और तारा आदि के रूप में स्वीकृत हुए हैं। अन्य विद्वान ऐतिहासिक दृष्टि से इसकी व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कि तन्त्रमत आदर्श-भ्रष्ट बौद्ध संघों से उत्पन्न हुआ। बौद्ध धर्म की पतितावस्था ने लोक में अबाध व्यभिचार फैला रक्खा था। हमारे समाज के अनेक दोष उन दिनों नग्न रूप में प्रकट हो गए थे। आचार्यों ने इन दोषों को धार्मिकता के बन्धनों में लपेटना चाहा और परिमाणामतः परकीया प्रेम की उत्पत्ति हुई।

वंगीय विद्वान जिस तत्व पर इतना बल देते हैं, वह उत्तरी भारत में कभी ग्राह्य नहीं हुआ। कदाचित इसीलिए वल्लभ सम्प्रदाय में राधा तथा अन्य

गोपियों को परकीया नहीं समझा गया। भागवत में इस सम्बन्ध की एक कथा है : एक बार कृष्ण अन्य गोपालों के साथ गायें चरा रहे थे। ब्रह्मा ने इन गायों और गोपालों को चुरा कर छिपा दिया। कृष्ण ताड़ गये और उन्होंने अपनी शक्ति द्वारा उतनी ही गायों और गोपालों का रूप धारण कर लिया। इसी वर्ष गोपियों का विवाह हुआ। साल भर बाद ब्रह्मा ने गायों और गोपालों को लौटा दिया तो किसी भी गोपाल को अपने विवाह की स्मृति नहीं थी, अतः वास्तव में गोपियों का विवाह कृष्ण रूप गोपालों से हुआ था। यह है भागवतकार की स्वकीया प्रेम की आधार भूमि। समाज में जिन बातों से विभोक्ष उत्पन्न होता है उन बातों को कोई आचार्य दार्शनिक रूप देकर भले ही टालना चाहे, परन्तु समाज से उसे स्वीकृति प्राप्त नहीं होती। इस सामाजिक अड़चन को दूर करके बल्लभ सम्प्रदाय वालों ने वैष्णव भक्ति को लोक-समस्त रूप दे दिया।

दो मौलिक विचारः—इसी सम्बन्ध में वैष्णव भक्ति-भाव से उत्पन्न दो मौलिक विचार भी स्मरणीय हैं। एक है, बौद्ध धर्म के पतन से लेकर यवन काल तक फैली हुई विलासिता को, व्यभिचारी प्रेम को, भगवान के प्रति उन्मुख कर देना और इस प्रकार मानव की कलुषित मनोवृति को वासना की कर्दम से निकाल कर भगवद्भक्ति रूपी परिमल में परिवर्तित कर देना। दूसरा विचार है वैराग्य को, निवृत्ति परायणता को, प्रवृत्ति में परिणत कर देना। वैराग्य की यह भावना जिसने हमारे हृदयों में घर कर रक्खा था और जिसके कारण हम संसार को मिथ्या समझने लगे थे, भक्ति की इस प्रबल धारा में बहकर न जाने कहाँ विलीन हो गई। कृष्ण की बाललीला एवं रासलीला में मग्न होकर मानव-मन खिन्नता से पृथक, उदासीनता से दूर और नैराश्य से हटकर घर के मंगल कार्यों में तत्पर होकर भाग लेने लगा। वैष्णव धर्म की यह देन आर्य जाति के लिए रामबाण औषधि सिद्ध हुई। धन्य हैं वे कवि जिन्होंने अपनी वाणी द्वारा इस भक्ति का जनता में प्रचार किया।

सूर की रासलीला—ऊपर जिस लीला के संबंध में हमने कुछ विचार प्रकट किये हैं, उसका वर्णन विष्णु पुराण, हरिवंश पुराण, श्रीमद्भागवत और ब्रह्मवैवर्त पुराण में भी पाया जाता है। सूर ने इस रासलीला का वर्णन श्रीमद्भागवत की रासपंचाध्यायी से लिया है। पर, जैसा हम लिख चुके हैं, भागवत में राधा का नाम नहीं आता। भगवान की एक ऐसी आराधिका गोपी का वर्णन अवश्य आता है, जिसे वे सर्वाधिक प्यार करते थे। सूर ने इसी गोपी को राधा नाम दिया है।

यद्यपि वल्लभसंप्रदाय के अनुयायियों ने परकीया के स्थान पर स्वकीया को महत्व दिया है, परन्तु व्यवहार के क्षेत्र में वंगीय वैष्णव शाखा से वे भी प्रभावित जान पड़ते हैं। तभी तो उस शरच्चंद्रिका-धौत निर्मल विभावरी में जब रास प्रारम्भ होने से पूर्व मोहन की मुरली बजती है, तब गोपिकायें अपने समस्त गृहकार्यों का परित्याग करके, आर्य-मर्यादा का उल्लंघन करती हुई अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी, शीतल-मन्द-सुगन्ध समीर से मादकतरंग-संकुल यमुना-तट पर जा पहुँचती हैं। सूर इस समय का वर्णन करते हुए लिखते हैं:—

जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके आरज पथ तजत न संक करी॥
पद-रिपु पट अटक्यो आतुर ज्यों उलटि पलटि उबरी।
सूरसागर (ना० प्र० स० १२७७)

जबहिं बन मुरली स्रवण परी।
चकृत भई गोप कन्या सब काम धाम बिसरी॥
कुल मरजाद वेद की आज्ञा नेकहु नाहिं डरी।
जो जेहि भाँति चली सो तैसेई निशि बन कुञ्ज खरी॥
सुत पति नेह, भवन-जन शंका, लज्जा नाहिं करी॥
सूरसागर (ना० प्र०स० १६१८)

मुरली मधुर बजाई स्याम।
मन हरि लियौ भवन नहि भावै व्याकुल ब्रज की बाम॥
भोजन भूषण की सुधि नाहीं, तन की नहीं सँभार।
गृह-गुरु-लाज सूत सौ तोर्‌यो डरी नहीं व्यवहार॥
सूरसागर (ना०प्र०स० १६०७)

मुरली सुनत भई सब बौरी।
छुटि सब लाज गई कुल कानी, सुनि पति-आरज-पंथ भुलानी।
सूरसागर दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३३८, ३३९

इन गीतों में सूर ने जिस आर्य-पथ, कुल-मर्यादा, वेद की आज्ञा, सुत-पति-स्नेह, भवन-जन-शंका, गुरु-गृह-लज्जा आदि के परित्याग का उल्लेख किया है, वह परकीया प्रेम को ही अभिव्यंजित कर रहा है। नीचे लिखे पदों में विश्व—विमोहक मुरली—ध्वनि के प्रभाव को देखिये :—

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यौ ।।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हें, पाहन जलज विकान्यौ ।।
स्वर्ग पाताल दसौ दिसि पूरन, धुनि आच्छावित कीन्हों ।
निसि वर कल्प समान बढ़ाई, गोपिन को सुख दीन्हों ।।
मैमत भये जीव जल थल के, तन की सुधि न संभार ।
सूर स्याम मुख बैन मधुर मुनि उलटे सब व्यवहार ।। ५२
सूरसागर (ना०प्र०स० १६८५)

मुरली गति विपरीति कराई ।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यो राधारवन बजाई ।।
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृण धेनु ।
जमुना उलटी धार चली बहि पवन थकित सुन बेनु ।। ५३
(सूरसागर पृष्ठ ३४७)

मुरली की इस ध्वनि को सुनकर ऐसी किस में सामर्थ्य थी, जो चुपचाप बैठा रहता । जो मुरली यमुना की धारा को उलट कर बहा सकती है, पवन को मूक, चन्द्र को स्तब्ध और सुर-गंधर्वों को व्याकुल बना सकती है, जिसकी ध्वनि को सुनकर गायें चरना छोड़ देती हैं, बछड़े दूध नहीं पीते, शिव की समाधि भंग हो जाती है, खग, मृग, गुरु, सुर, नर, मुनि आदि सब पर जिसका अबाध अधिकार है, उसकी ध्वनि कान में पड़ते ही गोपिकायें कुल-लज्जा को दूर करती हुई कृष्ण के पास पहुँच ही तो गईं । कैसा जादू है इस मुरलिका में !! सूर कहते हैं :—

लै लै नाम सबनिको टेरै, मुरली ध्वनि घर ही के नेरै ।
सुरसागर (आ०प्र०स० १६०७)

तथा

राधिका-रवन बन भवन सुख देखि के अधर धरि बेनु सुललित बजाई ।
नाम लै लै सकल गोप कन्यान के सबन के स्रवण वह धुनि सुनाई ।।
सूरसागर (ना० प्र० स० १६०३)

मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही प्रत्येक गोपी ने अनुभव किया जैसे उसी का नाम लेकर मुरली उसे बुला रही है:[1] सोलह सहस्र गोपिकायें और

१— गई सोलह सहस हरि पै, छाँड़ि सुत पति नेह ।९३। पृष्ठ ३४०
सूरसागर (ना० प्र० स० १६२५)

प्रत्येक का नाम पुकारती हुई वंशी की एक–एक ध्वनि– संदेश भी सबके लिए पृथक-पृथक; अद्भुत है यह मुरली ! यह जिसको जिस ढंग से चाहती है, वैसा ही संदेश उनके कानों में अपनी ध्वनि से डाल देती है। मुरली क्या है, मानों भगवान की कार्य-साधिका यन्त्र रूप माया है जो विश्व के समग्र भूतों को अपने अपने कार्यों में निरत कर रही हैं। और यह कार्य क्या है ? संसार के इस संसरण का, प्रत्येक व्यक्ति के स्व-कर्तव्यपालन का क्या भाव है ? यह भाव एक ही है, अपना-अपना कार्य करते हुए उधर ही दौड़ लगाना, उसी केन्द्र में समा जाना। गोपिकाओं का कृष्ण के पास जाना अध्यात्म पक्ष में जीवात्माओं का परमात्मा की ओर उन्मुख होना है। जो धारा संसार की ओर बह रही थी, उसे उलट कर ईश्वर की ओर बहाना है। तभी तो सूर लिखते हैं :—

मुरली स्याम अनूप बजाई। विधि मर्यादा सबनि भुलाई ॥
निसि बन को युवती सब धाई। उलटे अंग अभूषण ठाई ॥
कोऊ चलि चरण हार लपटाई। काहू चौकी भुजनि बनाई ॥
अंगिया कटि लहंगा उर लाई। यह सोभा बरनी नहि जाई ॥
सूरसागर (ना० प्र० स० १६०७)

गोपियों की जो वृत्ति गृहस्थी में, संसार में रमण, कर रही थी, वह मुरलीनाद सुनते ही इधर से हट परमार्थ की ओर लग गई। साधक साधना करता हुआ कभी-कभी अनुभव करता है, जैसे कोई बुला रहा हैं। गोपिकाओं को भी ऐसा ही अनुभव हुआ और वे चल पड़ीं। नशे में चूर, मतवाले मनुष्य को अपने तन-वसन का स्मरण नहीं रहता, गोपियों की भी ऐसी ही दशा है। वे भी कृष्ण-दर्शन के नशे में मतवाली बनी हुई हैं। तभी तो हार चरणों में लिपटाया जा रहा है और चौकी भुजाओं में पहनाई जा रही है। सब अंगों में उलटे आभूषण धारण किये जा रहे हैं, पर यह सब हो रहा है, घर की निशा से निकलकर कृष्ण की चाँदनी के दर्शन करने की धुन में। अँधेरे में भला कौन रहना चाहेगा ?

जाकौ मन हरि लियौ स्याम घन, ताहि संभारै कौन ?

जिसकी वृत्ति उधर फिर गई है, वह इधर की सँभाल क्यों करने लगा? गोपिकायें चल पड़ीं, पद-रिपु कंटकादि रूपी विघ्नों को जैसे-तैसे पार करती हुई, कृष्ण के पास पहुँचीं। परन्तु यह क्या ? कृष्ण तो उन्हें डांट रहे हैं, कहते हैं: निशीथकाल में अपने पतियों को छोड़कर तुम यहां कैसे आ गई ? आर्यं-

मर्यादा की यह अवलेहना ! जाओ, जाओ, लौट जाओ, जाकर घर में पति की सेवा करो । यही नहीं, कृष्ण गोपियों को मर्यादा-पालन का उपदेश भी भी देते हुए कहते हैं—

यह विधि वेद मारग सुनो ।
कपट तजि पति करी पूजा, कह्यो तुम जिय गुनो ।
कन्त मानहु भव तरौगी, और नहिन उपाय ॥
ताहि तजि क्यों विपिन आई कहा पायौ आय ।
विरध अरु बिन भागहू कौ पति भजौ पति होय ॥
जऊ मूरख होई रोगी, तजै नाहीं जोय ।
इहै मैं पुनि कहत तुमसों, जगत में यह सार ।
सूर पतिसेवा बिना क्यों तरौगी संसार ॥७०२॥पृ० ३४१

एक आर्य सद्गृहस्थ की मर्यादा यही है, जो सूर के इस पद में प्रकट हुई है। सूरसागर के रासलीला अध्याय में यहाँ तक गोपियों का परीकाया भाव ही प्रकट हुआ है । पर कृष्ण द्वारा की गई परकीया भावरूपी भर्त्सना को क्यों गोपियों ने आँखमीचकर स्वीकार कर लिया ? नहीं, गोपियों को इन पदों में व्यावहारिक रूप से परकीया कहा गया है, जो प्रतिभासिक सत्ता के अंदर स्थान पाता है । वास्तव में उनका प्रेम पारमार्थिक दृष्टि से स्वकीया का ही प्रेम है । तभी तो गोपियाँ कहती हैं:—

तुम पावत हम घोस न जाहिं ।
कहा जाई लैहैं ब्रज में हम यह दरसन त्रिभुवन में नाहिं ॥
तुमहू ते ब्रज हितू कोउ नहि कोटि कहौ नहि मानें ।
काके पिता, मात हैं काके, हम नहिं जानें ॥
काके पति सुत, मोह कौन कौ, घर है कहा पठावत ।
कैसौ धर्म, पाप है कैसौ,जास निरास करावत ॥
हम जाने केवल तुमही को और वृथा संसार ।
सूर स्याम निठुराई तजिये तजिये बचन बिनु सार ॥७॥

सूरसागर (ना० प्र० स० १६३९)

धाड़ मार रोती हुई गोपियों की इस कातर एवं व्याकुल वाणी को सुनकर कृष्ण ने उनके अनन्य प्रेम का अनुभव किया:—

हरि सुनि दीन बचन रसाल ।
बिरह व्याकुल देखि बाला भरे नैन विसाल

× × ×

हरष वाणी कहत पुनि पुनि धन्य धनि ब्रजबाल ।
सूर प्रभु करि कृपा जोह्यौ सदय भए गोपाल ॥१८

सूरसागर (ना०प्र०स० १६४९)

भक्त की वेदना का अनुभव करके भगवान् द्रवित हो गये और गोपियों के प्रेम को धन्य-धन्य कहने लगे ।

रास आरम्भ हुआ । कितना सुहावना समय है ! शरद कालीन निर्मल नभ में पूर्ण चन्द्र का प्रकाश, रोम-रोम में मादकता की तरंगे उत्पन्न करने वाली शीतल-मन्द-सुगन्धित वायु, परम रुचिर यमुना का तट !! सूर कहते हैं:—

आजु निसि सोभित सरद सुहाई ।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै रोम रोम सुखदाई ॥
यमुना पुलिन पुनीत परम रचि रचि मण्डली बनाई ।
राधा बाम अंग पर कर धरि मध्यहि कुंवर कन्हाई ॥६६पृ०३५०

सूरसागर (ना०प्र०स० १७५६)

राधा और कृष्ण के बीच में हैं । चारों ओर गोपियाँ हैं । वैसा ही समय, वसा ही सौन्दर्य और वैसी ही हार्दिक प्रेम की उमंग ! रासलीला क्या है मानों भगवान का एक एक आत्मा के साथ तद्रूप हो जाना है । पहले राधा के साथ नृत्य प्रारम्भ हुआ । सूर के शब्दों में ही सुनिये:——

कुण्डल संग ताटंक एक भये युगल कपोलनि झाई ।
एक उरग मानों गिरि ऊपर द्वै ससि उदय कराई ॥
चारि चकोर परे मनो फंदा चलत है चंचलताई ।
उडुपति गति तजिरह्यौ निरखि लजि सुरदास बलिजाई ॥

सूरसागर (ना०प्र०स० १७५६)

रास में राधा और कृष्ण दो नहीं मालूम पड़ते । दोनों मिलकर एक हो गये हैं । कृष्ण के कुन्डल और राधा के ताटंक अत्र पृथक–पृथक दिखलाई

नहीं देते । दोनों कपोलों पर उनकी झलक भर पड़ रही है, यह झलक सर्प के समान लहरें ले रही है। राधा के स्तन रूपी पर्वत के ऊपर राधा और कृष्ण दोनों के दो मुख दो चन्द्रमाओं के समान उदय हो रहे हैं। दोनों की दो-दो मिलकर चार आँखे चञ्चल हो रही हैं। एक दूसरे के जाल में फँसी हुई हैं। और वह वास्तविक चन्द्रमा ? वह देखता है। मेरे जैसे दो-दो चन्द्र आज पृथ्वी तर अपूर्व लीला कर रहे हैं,अतः वह देखते ही लज्जित हो जाता है और अपना चलना छोड़कर चुपचाप खड़ा हो जाता है। हाँ, यह रासलीला ऐसी ही है। वह देखो, विमानों में बैठकर देवता भी इस रास दृश्य को देखने के लिए आ गए और ब्रजबालाओं को धन्य-धन्य कहते हुए उनके ऊपर पुष्पों की वर्षा करने लगे। धन्य है वह वृन्दावन धाम, जहाँ उस लीला पुरुषोत्तम ने ऐसा अद्भुत रास किया।

शिव, शारदा और नारद, किन्नर, गन्धर्व और मुनि सभी तो इस दृश्य के दृष्टा बने हुए हैं। देवाँगनायें तो तरस रही हैं, चाहती हैं, वे ब्रजबालायें होतीं, तो इस रसिक-शिरोमणि के साथ कुछ तो रस का आस्वादन कर सकतीं। अरे नहीं, तो वृन्दावन की लताएं और वृक्ष ही वे बन जातीं। किसी प्रकार उस नटनागर का समीप्य तो प्राप्त हो।

> हमको विधि ब्रज वधू न कीन्ही कहा अमरपुर बास भये।
> बार बार पछिताति यहै कहि सुख होतौ हरि संग रये॥
> कहा जन्म जो नहीं हमारौ फिरि फिरि ब्रज अवतार भलो।
> वृन्दावन द्रूमलता हूजिए करतासों माँगिये चलो।३२। पृ० ३३४
>
> सूरसागर (ना०प्र०स०१६६४)

रास अपनी चरमसीमा पर पहुँचता है। सोलह सहस्त्र गोपियाँ, पर मृत्यु की द्रुतगति द्वारा सबको कृष्ण अपने ही साथ क्रीड़ा करते दिखाई पड़ते हैं। एक गोपी में समाया हुआ एक कृष्ण और एक कृष्ण में समाई हुई एक गोपी। उस अन्तर्यामी, घट-घट-व्यापक छबीले की सर्वत्र फैली हुयी छवि का कुछ ठिकाना है ? सूर जैसा क्रांतदर्शी कवि ही उसे कुछ-कुछ समझ और समझा सकता है। नीचे के पद में उस अलौकिक पारखी द्वारा अनुभूत रास-लीला का दृश्य देखियेः—

> मानो माई घन-घन अंतरदामिनि।
> घन दामिनि दामिनि घन अन्तर,सोभित हरि ब्रजभामिनि॥

यमुन पुलिन मल्लिका मनोहर सरद सुहाई यामिनि ।
सुन्दर ससि गुण रूप राग निधि, अँग अँग अभिरामिनि ॥
रच्यो रास मिलि रसकराइसों, मुदित भई ब्रजभामिनि ।
रूप निधान स्याम सुन्दर घन-आनन्द मनविस्त्रामिनि ॥
खन्जन मीन मराल हरन छवि भरी भेद गज गामिनि ।
को गति गुनही सूर स्याम संग काम विमोह्यौ कामिनि॥३४।

सूरसागर (ना०प्र०स० १६६६)

एक बादल अपनी उमड़-घुमड़ के साथ श्याम-काँति लिए हुए प्रत्येक स्थान पर विद्यमान है, जिसमें क्षण-क्षण क्षणदा का प्रकाश हो जाता है । यह विद्युत-प्रभा अपनी चमक-दमक को लिए हुए राधा और गोपियों का ही तो रूप है; धनश्याम तो घन रूप है ही । इस दृश्य से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य में निमग्न हो रहे हों, रसिक राज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप बनी हुयी ब्रजबालायें हर्ष-पुलक से ओत-प्रोत हो रही हैं । खञ्जन, मीन तथा मराल की शोभा को अपनी अमन्द छवि से पराजित करने वाली इन अनिन्द्य रास-विह्वला गोपियों की गति का कोई क्या वर्णन करेगा ।

रासलीला की कला-ताल का तारतम्य भी देखिये:—

विराजत मोहन मण्डल रास ।
स्यामासुधा सरोवर मानों क्रीडत विविध विलास ॥
ब्रज जुवती सत यूथ मण्डली मिलि कर परस करे ।
भुजमृनाल भूषन तोरन युत कञ्चन खम्भ खरे ॥
मृदु पदन्यास मन्द मलयानिल,वगलित सीस निचोल ।
नील पीत सित अरुन ध्वजाचल सीर समीर झकोल ॥
विपुल पुलक कञ्चुकि बँद छूटे हृदय अनन्द भये
कुच युग चक्रवाक अवनी तजि अन्तर रैनि गये ॥
दसन कुन्द दाडिम द्युतिदामिनि प्रगटत ज्यों दुरिजात ।
अधर बिम्ब मधु अमीं जलदकन प्रीतम बदन समात ॥
गिरत कुसुम कबरी केसन ते टूटत है उर हार ।
सरद जलद मनु मन्द किरनकन कहूं कहूं जलधार ॥
प्रफुलित बदन सरोज सुन्दर अति रस रंग रंगे ।

पुहुकर पुण्डरीक पूरन मनु खञ्जन केलि खगे ।।
पृथु नितम्ब करभीर, कमल पद, नखमनि चन्द्र अनूप ।
मानहु लुब्ध भयौ वारिजदल इन्दु किये दस रूप ।।
स्रुति कुण्डल धर गिरत न जानति अति आनन्द भरी ।
चरन परस ते चलत चहूं दिसि मानहु मीन करी ।।
चरन रनित नूपुर कटि किंकिन, करतल ताल रसाल ।
तरुनी तनय समेत सहज सुख मुखरति मधुर मराल ।।
बाजत ताल मृदंग बाँसुरी, उपजति तान तरंग।
निकट विटप मनु द्विजकुल कूजत, वयबल बढ़े अनंग ।।
सकल विनोद सहित सुर ललना मोहे सुर नर नाग ।
विथकित उडुपति बिम्ब विराजत श्रीगोपाल अनुराग ।।
याचक दास आस चरनन की अपनी सरन बसाव ।
मन अभिलाष स्रवन जस पूरति सूरहिं सुधा पिआव ।।६४।।

सूरसागर (ना०प्र०स० १७५४)

ऊपर के पद में ब्रज की इन युवतियों का हाथ पर हाथ रक्खे हुए मृदुल पद-विन्यास पढ़ते ही बनता है, जिसमें रास करते हुए कभी उनके शिर से वस्त्र नीचे खिसक जाता है, केशपाशों में गुथी हुई कुसुमों की माला नीचे गिर पड़ती है, हार में पिरोये हुए मोती इधर उधर बिखर जाते हैं और कानों पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं, चरणों की गति से नूपुरों की शिंजन जब रुनझुन करने लगती है, तो कटि में पड़ी हुई किंकणी उसके साथ ताल मिलाने लगती है, और करताल से उत्पन्न सुन्दर तालिका की ध्वनि उसके साथ समवेत स्वर हो स्वर्गीय समाँ बांध देती है । साथ ही मृदंग, मुरज, मुरली आदि अनेक वाद्य बज रहे हैं । रासलीला के इस रसीले राग से व्योम में विमान स्थित देववृन्द आश्चर्य-चकित हो रहा है और तारकावलि टकटकी लगाये इस नृत्य के निरखने में निमग्न है । और अन्धा सूरदास ? वह भी चाहता है, इस अमृत का अनवरत आस्वादन करता रहे ।

कितना अद्भुत इस रास का प्रभाव है । सन्त सूर की तो सम्पत्ति ही कितनी ? इस रासलीला ने तो नारद जैसे मुनीश्वर, शारदा जैसी विद्या की अधिष्ठातृ देवी और शिव जैसे योगीश्वर तक को आत्मविस्मृत कर दिया । शिवजी ही नहीं, नारायण तक मुग्ध हो गये, और अपनी प्रियतमा रमा से कहने लगे, "प्यारी, सुनो, सुनो आज श्याम बन में विहार कर रहे हैं । जिस

सुख विलास में आज ब्रजाँगनायें मग्न हैं, वह सुख हमारे भाग में कहाँ ? धन्य हैं ये ब्रजवामायें !!

राग रस मुरली ही तें, जान्यौ ।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियौ मारग चन्द्र हिरान्यौ ।।
धरनि जीव जल थल के मोहे, नभ मण्डल सुर थाके ।
तृण, द्रुम, सलिल, पवन गति भूले, स्रवण शब्द पर्‌यो जाके ।।
बच्यौ नहीं पाताल रसातल, कितिक उदै लों भान ?
नारद सारद शिव यह भाषत, कछु तत रह्यो न सयान ।।
यह अपार रस-रास उपायौ सून्यो न देख्यों नैन ।
नरायण धुनि सुनि ललचाने, स्याम अधर सुनि बैन ।।
कहत रमा सों सुनि-सुनि प्यारी, बिहरत हैं बन स्याम ।
सूर कहा हमको वैसो सुख, जो विलसति ब्रज बाम ।। ५५ ।।

सूरसागर (ना०प्र०स० १६८७)

और सबसे बढ़कर तो रास-रस का स्वाद मुरली को मिला । वही तो स्वाद श्याम-अधरों पर बैठी हुई शब्द कर रही है । चन्द्रमा का मार्ग-विस्मृत हो जाना तो साधारण बात है । देवताओं के मुग्ध होने में भी कोई विशेषता नहीं । पर तिनकों और वृक्षावलियों से तो पूंछो, इन्हें काठ क्यों मार गया ? अरे, ये विचारे क्या करें, जल और पवन तक अपना बहना भूल इस नाद-निनादिनी में बहने लगे हैं । पाताल, रसातल और तलातल भी तो न बच सके, इस रस- प्रवाह में सभी बरबस बहे जा रहे हैं ।

इसी रास के बीच में सूर ने राधा-कृष्ण का विवाह कराया है । इस विवाह का सूर ने बड़ा ही सांगोपाँग वर्णन किया है । कृष्ण की प्राप्ति के लिये राधा व्रत रखती हैं । यमुना के पावन पुलिन पर वेदी बनती है । कुञ्ज मण्डप का कार्य करते हैं । मुरली निमंत्रण देकर गोपिकाओं को बुला लाती है । गोपियाँ वर-बधु का ग्रन्थि-बन्धन करती हैं । भांवरें पड़ती हैं और बड़ी धूम धाम के साथ विवाह की विधि सम्पन्न होती है । सूर ने यहाँ गालियाँ भी दिलवाई हैं । जिन्हें पढ़कर केशवकृत रामचन्द्रिका की गालियाँ याद आ जाती हैं । कंकन खोलने के समय का दृश्य भी चमत्कारयुक्त है । विवाह के इस प्रसंग का समावेश करके सूर ने राधा के परकीया भाव का स्पष्ट रूप से निराकरण कर दिया है । विवाह के पश्चात् फिर रसालीला प्रारम्भ होती है ।

विवाह होने के पश्चात राधा को गर्व हुआ। उसने समझा; यह रास-लीला उसी के लिये हुई, यह सारा समाँ उसी के लिये जोड़ा गया है। वह है समस्त गोपियाँ में पटरानी, फिर गर्व का क्यों न अनुभव करे? सूर लिखते हैं:—

तब नागरि जिय गर्व बढ़ायौ।
मो समान तिय और नाहि कोउ, गिरिधर मैं ही बस करि पायौ॥
जाइ जोइ कहत, करत सोइ सोइ पिय, मेरे हित यह रास उपायौ।
सुन्दर चतुर और नहिं मो सी देह धरे कौ भाव जनायौ॥

सूरसागर (ना० प्र०स०१७१८)

और इस गर्व में भूली हुई राधा कुछ धृष्ट भी हो गई। भक्तिपक्ष में साधक अभिमानी बन बैठा, उद्दण्डता करने लगा। सूर के शब्दों में ही सुनिये:—

कहै भामिनी कन्त सों मोहि कन्ध चढ़ावहु।
निरत करत अति श्रम भयौ ता श्रमहि मिटावहु॥
धरनी धरत बनै नहीं पग अतिहि पिराने।
तिया वचन सुनि गर्व के पिय मन मुसकाने॥

सूरसागर (ना०प्र०अ०१७१९)

राधा कहती हैं:—"नृत्य करते हुये मैं थक गई हूँ। पैरों में पीड़ा होने लगी है। पृथ्वी पर चलते नहीं बनता। जरा अपने कन्धों पर बिठालो, थोड़ी देर विश्राम कर लूँ, जिससे थकावट दूर हो जाय।" राधा के इन गर्वीले धृष्ट वचनों को सुनकर कृष्ण मन ही मन मुसकाने लगे।

कृष्ण की यह मुसकान राधा के लिये अमृत के स्थान पर विष बन गई। थोड़ी ही देर में कृष्ण अन्तर्धान हो गये।

कृष्ण को पाकर राधा विखलती हुई एक वृक्ष के नीचे मूर्छित होकर गिर पड़ी। गोपियाँ रुदन करने लगीं[1]:—

१—आचार्य वल्लभ ब्रह्मासूत्र ४–२–११ के अणुभाष्य, पृष्ठ १३१९ पर इस विरह ताप को भी रसात्मक कहते हैं:—आनन्दात्मक रसात्मकस्य अस्यैव, भगवतः एवं धर्मऊष्मा विरहतापः इत्यर्थः।……भगवद्विरहस्य सर्वसाधारणत्वेऽपि स्थायिभावात्मक रस रूप भगवत्प्रादुर्भावो यस्य हृदि भवति तस्यैव तत्प्राप्तिजः तापः, तदनन्तरम् नियमतः तत्प्राप्तिश्च भवति।…

व्याकुल भई घोष कुमारि।
स्याम तजि सँग ते कहाँ गये यह कहति ब्रजनारि।।
सूरसागर ना०प्र०स० (१७१५)

व्याकुल बनी हुई गोपिकाओं ने कुछ साहस एकत्र किया और लताओं, कुञ्जों एवं वृक्षों के झुरमुट में कृष्ण को ढूँढने लगीं। पर एक बन ढूँढ़ि, सकल बन ढूढ़ौं, कतहुँ न श्याम लह्यौ" स्याम न मिले। विरह की आँच से पिघले हुए हृदय वाली गोपिकाओं ने बन की लताओं से पूछा, वृक्षों और पक्षियों से पूछा, कदम्ब और कुञ्जों से पूछा, पर किसी ने भी कृष्ण का वृत्तांत न बताया। गोपियां बिलख उठीं, बिसूर-बिसूर कर रोने लगीं। राधा और गोपियों की इस व्यथित दशा में क्या कृष्ण चुपचाप बैठे रहेंगे? भक्त आंसू बहावे और भगवान आँखों-कानों पर पट्टी बांध कर देखा अनदेखा और सुना अनसुना करता रहे। भारतीय साधना का पथ भगवान के इस कूटस्थ रूप तक नहीं पहुँचता। यहां तो भक्त के एक आंसू पर भगवान हजार आंसू गिराने वाले हैं। यह है वैष्णव धर्म का पुष्टिमार्ग, भगवान के अपार अनुग्रह का अनुभव। मां जैसे अपने रोते हुए बच्चे को दौड़ कर उठा लेती है, उसके अपराधों पर विचार नहीं करती, वैसे ही कृष्ण भगवान राधा के गर्व आदि को भूल कर दौड़े चले आये। हमारी साधना का कितना आश्वासनप्रद स्थल है यह!

हमारे और भगवान के बीच कौन परदा खड़ा करता है? यही गर्व, दर्प और अहंकार। जहाँ एक बार हमने पश्चात्ताप की अग्नि में इस आवरण को दग्ध किया, रोकर आंसुओं की धारा में इसे बहा दिया, वहां भगवान के प्रकट होने में देर नहीं लगती। कृष्ण आ गये, रासलीला फिर चलने लगी।

बहुरि स्याम सुख रास कियो।
भुज भुज जोरि जुरी ब्रजवाला वैसे ही रस उमगि हियो।।
सूरसागर (ना०प्र०स० १७५०)

रास करने से फिर वैसी ही पूर्व की सी अवस्था उत्पन्न हो गई[1]। सुर

१— ३-३-२६ के अणुभाष्य, पृष्ठ १०५३ पर आचार्य बल्लभ लिखते हैं :— ब्राह्मणः सकाशात् विभागो जीवस्य हानि शब्देन उच्यते। तथा च तस्यां (हान्याम्) सत्यां ये धर्माः जीवनिष्ठा आनन्दांश ऐश्वर्यादयः भगव—

नर, मुनि वैसे ही वशीभूत, नक्षत्र और चन्द्रमा उसी प्रकार मार्ग भूले हुए, यमुना और पवन वैसे ही गति-विहीन, जैसे प्रथम रास के अवसर पर थे।

रासलीला समाप्त हुई। गोपियाँ, राधा, कृष्ण सबके सब थके-माँदे यमुना के जल में थकावट दूर करने के लिए स्नान करने लगे। रात्रि व्यतीत होने आई। पर यह अकेली रात्रि भागवत के अनुसार छः महीने के बराबर थी। और सूर के शब्दों में तो वह एक[1] कल्प के काल से कम नहीं थी। सूर कहते हैं: इस रासलीला का वर्णन करना मेरी सामर्थ्य के तो बाहर है। जो इसका वर्णन कर सके, वह वन्दनीय है :—

रास रसलीला गाइ सुनाऊँ।
यह जस कहै सुनै मुख स्रवननि तिन चरननि सिरनाऊँ॥
सूरसागर (ना० प्र० स० १७९६)

तथा

रास—रस रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ इह चित्त जिय भ्रमभुलावै॥
जो कहौं कौन माने निगम अगम जो, कृपा बिनु नहीं यह रसहि पावै।
भाव सों भजै, बिनु भाव में यह नहीं, भाव ही मांहि भाव यह बसावै॥

× × ×

यहै निज मन्त्र, यह ध्यान यह ज्ञान है दरस दम्पति भजन सार गाऊँ।
इहै माँगौं बार-बार प्रभु सूर के नयन दोऊ रहैं नर देह पांऊँ॥
(सूरसागर (ना० प्र० स० १६२४)

यह रासलीला, जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, विश्व की विराट कार्य-प्रणाली का मधुर आभास है। इसका रूप क्षणिक नहीं, शाश्वत है। सूर-सारावली के एक पद में इस बात की ओर सूर ने संकेत भी किया है :—

दिच्छया तिरोहितास्ते ब्रह्म सम्बन्धे सति पुनः आविर्भूता इति। ब्रह्म के सामीप्य से जो जीव का विभाग (पृथकत्व) है, वह हानि शब्द द्वारा प्रकट किया गया है। इस पृथकत्व में जीव के जो आनन्दांश, ऐश्वर्य आदि धर्म भगवदिच्छा से तिरोहित हो जाते हैं, वे ब्रह्म सम्बन्ध होने पर पुनः आविर्भूत हो उठते हैं।

१— निसि वर कल्प समान बढ़ाई गोपिन को सुख दीन्हों। ५२। पृ. ३४७

वृन्दावन हरि यहि विधि क्रीडत सदा राधिका संग ।
भोर निसा कबहूँ नहिं जानत सदा रहत इक रंग ॥१०९६॥

वह रास जिसमें हरि एवं राधा दोनों में से किसी भी खेलने वाले को न रात्रि का पता चलता है, न प्रभात का, जिसमें सर्वदा एक रस क्रीड़ा बनी रहती है, वह भगवान का नित्य रास हैं, शाश्वत लीला है[1]। सूरसागर के दशम स्कन्ध में इसी भाव का एक पद और आता है:—

१— बृहद ब्रह्म संहिता में नित्य लीला का इस प्रकार वर्णन है:-
ब्रह्मा ने पूछा—भगवान! वृन्दावन किस प्रकार आपकी नित्य लीला भूमि है ? वृन्दा क्या है ? परमानन्द नाम की विमुक्ति क्या है ? लीला क्या है ? (२, ४, ९८) श्रीनारायण ने उत्तर दिया : निर्गुणायास्तुलीलाया यद्यप्यन्तोन विद्यते: आविर्भावस्तिरोभावो ह्यस्ति केनापि हेतुना ॥ २, ४, ९९

गोलोक गोकुलोद्भूत श्वेतद्वीपादि केलिवत् ।
नित्या सूक्ष्म स्वरूपेण कल्पान्ते चातिवर्तते ॥१००॥
ये जीवा: कृपया विष्णोर्वीक्षिता: सुरसत्तम ।
वसन्ति रसमार्गीया नित्यलीला भिकाङ्क्षिण ॥१०१
सदा रास रसाविष्टो वेणुवाद्यधरो हरि: ।
मयूर पिच्छाभरण: कोटिकन्दर्प सुन्दर: ॥ १०६
रमते रमया साकं नित्यं मुक्तै रुपाश्रित: ।
नात्र कालगति: साक्षादिच्छैका परमात्मन: ॥११७

निर्गुणलीला का अन्त नहीं है, फिर भी उसका आविर्भाव और तिरोभाव होता रहता है। गोलोक में यह लीला नित्य, और सूक्ष्मरूप से कल्प के अन्त में भी होती रहती है। जो जीव रसमार्गीय और नित्य लीला के आकांक्षी हैं, वे विष्णु की कृपा से इसमें निवास करते हैं। रास-रसाविष्ट मुरलीधर मुक्त जीवों से सेवित हुआ रमा के साथ नित्य रमण करता रहता है। काल की भी यहाँ गति नहीं होती। प्रभु की साक्षात् एक इच्छा ही वहाँ कार्य करती है। श्लोक १४८ में लीला रूपिणी राधा का भी उल्लेख है, वृन्दा को कमल सम्भवा लक्ष्मी और सुषुम्ना में प्रविष्ट भक्तों की वैष्णवी गति को ही विमुक्ति कहा गया है। फिर लिखा है:—योऽहं सा मम लीला, या तु लीला सोऽस्म्यहं पुन: अन्तरं नैव पश्यामि यथा वै शेष शेषिणो: ॥१५३

हरि में और लीला में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं।

नित्य धाम वृन्दावन स्याम । नित्य रूप राधा ब्रजवाम ॥
नित्य रास जल नित्य विहार । नित्य मान खंडिताभिसार ।
ब्रह्म रूप ऐई करतार । करनहार त्रिभुवन संसार ॥
नित्य कुंज सुख, नित्य हिंडोर। नित्यहि त्रिविधसमीर झकोर ॥७२

सूरसागर (ना० प्र० स० ३४६१)

वृन्दावन भी शाश्वत धाम है और उसमें होने वाला राधा और कृष्ण का रास भी नित्य है। रास की इस नित्यता को सूर ने भगवान की शाश्वत लीला कहा है। आचार्य वल्लभ ने , इसी शाश्वत लीला के सूर को दर्शन कराये थे ।

भौगोलिक दृष्टि में वृन्दावन किस स्थान पर है? पुष्टिमार्गीय विद्वान वर्तमान वृन्दावन को इस स्थान का श्रेय नहीं देते । वे गोवर्धन पर्वत के निकट परासौली के आस पास की भूमि को वृन्दावन मानते हैं। गोस्वामी हरिराय जी स्वरचित सूरदास की वार्ता, प्रसंग ११ के प्रारम्भ में लिखते हैं:–'सो तब (देहावसान के समय) सूरदास जी अपने मन में यह विचार करिकै परासौली आये । सो तहाँ अखण्ड रासलीला ब्रह्मरात्र करि भगवान ने रास पंचाध्याई की सगरी लीला उहाँ करी है । सो जहाँ उडुराज चन्द्रमा प्रकट्यो है । सो तहां चन्द्र सरोवर है । ऐसे अलौकिक स्थल में आये ।'

इस समय परासौली (मुहम्मदाबाद) से लगभग ३ फर्लाङ्ग दूर पर गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी की टूटी फूटी हवेली खड़ी है। इसी हवेली के अन्दर सूरदास जी की कुटी है। समीप में ही एक तालाब है, जिसे चन्द्रसरोवर कहा जाता है । इन पंक्तियों के लेखक ने इस सरोवर में स्नान किया है और गोपाल की कृपा से ऊपर की सिड्ढियों की फिसलन के कारण वह रपट जाने पर भी डूबने नहीं पाया । स्थान रमणीय है, पर रासलीला में वृन्दावन के निकट जो यमुना प्रवाहित हो रही थी, वह यहाँ दिखाई नहीं देती । पुष्टिमार्गीय विद्वानों का विचार है कि यमुना ने कालान्तर में अपना प्रवाह - मार्ग बदल दिया है । द्वापर के अन्त में वह इसी स्थान के निकट बहती थी ।

सूरसागर (ना० प्र० स० प्रथम संस्करण) के पद संख्या ३५६९ में सूरदास ने वृन्दावन की स्थिति गोकुल से यमुना नदी के उस पार मानी हैं। पद में इस प्रकार हैं:—

वृन्दावन ग्वालनि संग, गइया हरि चारैं ।
अपने जन हित काज, ब्रजकौं पगु धारैं ।
जमुना करि पार गाइ, स्याम देत हेरी ।
वृन्दावन गोकुल बिच, जमुना के आगे ।।

सूरसागर के अन्य पदों से भी वृन्दावन की स्थिति गोकुल के समीप ही प्रतीत होती है ।

मुरली

सूर ने कई रूपों में मुरली का वर्णन किया है और प्रत्येक रूप में उनकी रागमयी मनोवृत्ति वंशी-ध्वनि के साथ तदाकार हो गई है । अद्भुत है यह मुरली, जिसकी ध्वनि सुनते ही सिद्धों की समाधि भंग हो जाती है । नीचे लिखे पद में सूर ने मुरली का कैसा व्यापक प्रभाव अंकित किया है:—

मेरे साँवरे जब मुरली अधर धरी ।
सुनि मुनि सिद्ध समाधि टरी ।।
सुनि थके देव विमान । सुर वधू चित्र समान ।।
गृह नखत तजत न रास । याही बँधे धुनि पास ।।
सुनि आनन्द उमँग भरे । जल थल अचल टरे ।।
चर अचर गति विपरीत । सुनि बेनु कल्पित गीत ।।
झरना झरत पाखान । गन्धर्व मोहे गान ।।
सुनि खगमृग मौन धरे । फल दल तृन सुधि बिसरे ।।
सुनि धेनु कथित रहे । तृन दन्त नाहि गहे ।।
बछवा न पीवें छीर । पंछी न मन में धीर ।।
द्रुम बेलि चपल भये । सुनि पल्लव प्रकट नये ।।
जे विटप चञ्चल पात । ते निकट को अकुलात ।।
अकुलित जे पुलकित गात । अनुराग नैन चुआत ।।
सुनि चञ्चल पवन थके । सरिता जल चलि न सके ।।
सुनि धुनि चली ब्रजनारि । सुत देह गेह बिसारि ।।
सुनि कथित भयो समीर । बहै उलटि यमुना नीर ।।

सूरसागर (ना०प्र०स० १२४१)

यह है मुरली का व्यापक प्रभाव ! क्या जड़, क्या अर्धचेतन और क्या पूर्ण चेतन, सब उसके हृदयाह्लादक, प्राणपोषक, मनोहारी नाद से आन-

न्दित हो रहे हैं। कई स्थानों पर सूर ने मुरली के अभाव का ऐसा ही हृदय-हारी वर्णन किया है। इस वर्णन में सूर कहीं-कहीं इतने निमग्न हो गये हैं कि उन्हें अपना भान तक नहीं रहा, जैसे मुरली में सूर और सूर में मुरली समाई हुई हो।

मुरली की यह ध्वनि अध्यात्मक्षेत्र में क्या है ? कतिपय विद्वानों ने इसे शब्द ब्रह्म का नाम दिया है। जैसे ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसी प्रकार उसकी वाणी भी सर्वव्यापक है। अतः वंशी-ध्वनि परमब्रह्म का शब्द रूप है। अन्य विद्वानों ने इसे नामलीला का रूप दिया है। भक्त नाम का जाप करते हुये जिस ध्वनि का अपने अन्तस्तल में श्रवण करता है, वही तो वंशी की ध्वनि है। हठयोग कुण्डलिनी शक्ति के जाग्रत होने पर जो स्फोट और नाद होता है और जो नाद ब्रह्माण्ड भर में गूँजता हुआ सुनाई पड़ता है, उसे भी वंशी-ध्वनि के साथ उपमित किया गया है। वंशी कहीं–कहीं योगमाया का रूप भी मानी गई है, जो प्रभु की अपरा शक्ति की वाचक है। श्रेय और प्रेय दोनों मार्ग यहीं से प्रारम्भ होते हैं। इन सबके ऊपर वैष्णव आचार्यों द्वारा की हुई वंशी निनाद से उत्पन्न सुख के सामने फीका पड़ जाता हैं। वेणु में तीन अक्षर हैं व+इ+णु। 'व' ब्रह्मसुख का द्योतक है, 'इ' सांसारिक सुख को प्रकट करती है। इन दोनों प्रकार के सुखों को जो 'णु' अर्थात मात करने वाली है, वह है वेणु। आचार्य वल्लभ ने इस वेणुनाद का कई प्रकार से निरूपण किया है। वे कहते हैं: जब किसी मनुष्य को प्रभु का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है, तब उसके सामने वंशी बजने लगती है। इसके पूर्व श्लोक की व्याख्या में उन्होंने लिखा है: "ब्रह्मानन्दादपि अधिक आनन्द सार भूता" अर्थात मुरली ध्वनि ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द -प्रदायिनी है। वह आनन्द का सार है। सूर ने भी वल्लभ शिक्षा से दीक्षित होकर मुरली का ऐसा ही लोकोत्तर वर्णन किया है.—

छबीले मुरली नेकु बजाउ।
बलि-बलि जात सखा यह कहि-कहि अधर सुधा रस प्याउ॥
दुर्लभ जन्म दुर्लभ वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है, स्याम तुम्हारो संग॥
बिनती करहि सुबल श्रीदामा, सुनहु स्याम दे कान।
जा रस को सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान॥

सूरसागर (ना०प्र०स०, १८३४)

सूर ने मुरली पर बहुत लिखा है। एक स्थान पर उन्होंने मुरली को गोपिकाओं से स्पर्धा करने वाली राधा की सपत्नी के रूप में उपस्थित किया है:—

अधर रस मुरली सौतिन लागी।
जा रस को षट् ॠतु तप कीनों सो रस पिवत सभागी॥
कहाँ रही, कहँ ते यह आई कौने याहि बुलाई।
सूरदास प्रभु हम पर ताकों कीनी सौति बजाई॥
सूरसागर (ना०प्र०स०, १८३९)

एक पद और देखियेः—
स्याम तुम्हारी मदन मुरलिका नैकसी ने जग मोह्यौ।
जे सब जीव जन्तु जल थल के नाद स्वाद सब पोह्यौ॥
जे तीरथ तप करे अरनसुत पन गहि पीठि न दीन्ही।
ता तीरथ तप के फल लैके स्याम सुहागिनि कीन्ही॥
धरणी धर गोवर्धन राख्यौ कोमल प्राण अधार।
अब हरि लटकि रहत ह्वै टेढ़ें तनिक मुरलि के भार॥
निदरि हमहि अधरन रस पीवै पठै दूतिका माई।
सूर स्याम निकुञ्ज ते प्रकटा बँसुरी सौति भई आई॥
सूरसागर (ना०प्र०स०,१२७४)

गोपियाँ कहती हैं: श्याम, यह तुम्हें क्या हो गया है? इस तनिक-सी मुरली ने तुम्हें कैसा बशीभूत किया! गोवर्धन जैसे पर्वत को अँगुली पर उठाने वाले गिरधर, आज तुम मुरली के बोझ से ही तिरछे हुये जाते हो। मुरली का इतना भय तुम्हारे अन्दर क्यों प्रविष्ट हो गया है? कहाँ तुम वह थे कि हमें क्षण भर के लिए भी विस्मृत नहीं करते थे, और आज यह हाल है कि हमारी अवहेलना ही नहीं, निरादर भी हो रहा है। यह सब इसी सौति मुरली के कारण है।

मुरली सौति ही नहीं, बड़ी धृष्टमा नवती पत्नी भी है। इसने कृष्ण को मोहित ही नहीं किया, उनका सर्वस्व तक हरण कर लिया है। कुल की हेटी है न? अरे, जिसने अपने ही शरीर से अग्नि निकाल कर अपने ही कुल का विध्वंश किया हो, वह पराये—गोपियों के—कुल को क्या छोड़ेगी? गोपियाँ

तो अलग रहीं' यह तो कृष्ण तक को नाकों चने चबवा रही है। देखिए न:—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नन्दनन्दन नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाँइ ठाढ़ौ करि अति अधिकार जनावति॥
कोमल अंग आपु आज्ञागुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति॥
आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल कोपि नासा पुट हम पर कोपि कुपावति॥
सूर प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सुसीस डुलावति॥३९॥ पृष्ठ १९०

सूरसागर (ना०प्र० स०, १२७३)

मुरली कृष्ण को अपने आधीन करके कैसा नाच नचा रही है। जैसा कहती है, वैसा ही कृष्ण को करना पड़ता है। मजाल क्या, मुरली की आज्ञा के बिना वे तनिक भी इधर से उधर हो जायें। कितना अधिकार है इस मुरली का! कभी कृष्ण को एक पैर से खड़ा कर देती है, कभी उसकी गर्दन पकड़कर झुका देती है। बेचारे कमर टेढ़ीं किये जैसे-तैसे खड़े-खड़े हुक्म बजा रहे हैं। इस पर भी खैर नहीं। यह देखो, कृष्ण के अधरों को शैया बनाकर मुरली लेट गई। कृष्ण को आज्ञा मिली। पैर दाबो। मानिनी को मनाने के लिए गर्वीली के गर्व को रखने के लिए कृष्ण चुपचाप दोनों हाथों से उसके पैर दाबने लगे।

गोपिकायें अब अधिक सहन न कर सकीं। सौति क्या आई, आफत आ गई। यह स्वयं क्रोध करती है और इसके साथ गोपिकाओं की ओर भौहें तिरछी किये नाक सिकोड़े कृष्ण भी क्रोध प्रकट कर रहे हैं। अच्छा, यह भी सही, पर यह क्या? यह तो गोपियों के आराध्य देव कृष्ण तक को उनसे पृथक किये देती है; पृथक ही नहीं उन्हें तंग भी करती है। गोपियों नेनिश्चय किया-यह राग अब समाप्त होना चाहिए। गोपियाँ कहती हैं:—

सखी री मुरली लीजै चोरि।
जिन गोपाल कीन्हे अपने बस प्रीति सबनु की तोरि।
छिन एक घोर, फेरि बसु ता सुर, धरत न कबहूं छोरि॥
कबहूं कर कबहूं अधरन पर कबहूं कटि में खोसत जोरि।

ना जानो कछू मेलि मोहिनी राखी अंग अम्भोर ॥
सूरदास प्रभु को मन सजनी बँध्यो राग की डोर ॥४१॥ पृष्ठ १९०
सूरसागर (ना०प्र०स० १२७५)

मुरली ने कुछ ऐसा जादू डाला है, ऐसी मोहिनी फेरी है कि कृष्ण को जब देखो उसी के पीछे लगे दिखाई देते हैं। मुरली से एक बोल निकलता है, वह भी क्षणिक, पर कृष्ण सदा के लिए उनके हाथ बिक जाते हैं। कभी उसे हाथ में लेते हैं, कभी अधरों पर रखते हैं और कभी उसे कमर में खोंस लेते हैं। वंशी के प्रेम-पाश में ऐसे बंधे हैं कि उसे कभी छोड़ते ही नहीं। अच्छा, इस मुरली ही को चुरा लेना चाहिये। इस राग की जड़ ही काट देनी चाहिये। न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

पर गोपियों को क्या मालूम था, वंशी की मोहिनी के पीछे कितनी तपस्या छिपी पड़ी है। मुरली श्याम की सुहागिनी सेंत-मेंत में नहीं बन गई। इसने बड़े-बड़े तप किये हैं। अनेक तीर्थों के दर्शन किये हैं। न जाने कितनी वर्षा, कितना शीत, कितना आतप इसके सिर से उतर गया; पर जिस व्रत में यह व्रती बनी, जिसकी प्राप्ति के लिए प्रण करके तप करने बैठी, उस असि-धारा-व्रत से तनिक भी हिली-डुली नहीं इसने अविचलित भाव से उसका अन्त तक निर्वाह किया। सूर के शब्दों में ही इसके सन्ताप-सहन का समाचार सुनिये :—

मुरली तपु कियौ तनु गारि।
नेंक हू नहिं अंग मुरकी जब सुलाखी जारि ॥
सरद ग्रीषम प्रबल पावस खरीं इक पग भारि।
कटतहू नहिं अंग मोर्‌यो साहसिनि अति नारि ॥
रिझै लीन्हे स्यामसुन्दर देति हौ कत गारि।
सूर प्रभु तब ढरे हैं री गुननि कीन्ही प्यारि ॥
सूरसागर (ना० प्र० स० १९५८)

मुरली ने कितना तप किया है! इसने अपना सारा शरीर ग्रीष्म की पञ्चाग्नि में तपकर जला डाला। शरद के घोर शीतकाल के ठिठुर-ठिठुर कर यह काँटा हो गई। पावस की प्रबल धुआँ-धार झड़ी में एक पैर में खड़े रह कर इसने अपने शरीर को गला दिया। कितनी संताप-सहिष्णुता है इसमें?

कितना साहस है इस मृदुल मुरली में ! घोर तपश्चर्या के पश्चात् यह वन से काटी भी गई, पर मजाल क्या कि काटने में मुख से उफ तक भी करे ! काटे जाने के पश्चात् गर्म तकुए से इसमें छेद किये गये। फिर भी अविचल खड़ी रही, शरीर को जरा-सा इधर से उधर न होने दिया। इतनी तपश्चर्या पर भी कृष्ण न रीझेंगे ? अरी गोपियों, तुम वंशी को व्यर्थ बुरा भला कहती हो। ये इसके गुण ही हैं, जिन्होंने सबको आकर्षित करने वाले कृष्ण को भी इसके प्रति आकर्षित करा दिया। धन्य है मुरली ! धन्य है तेरा तप ! ! मुरली स्वयं कहती है :—

ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु।
पूछहु जाइ स्यामसुन्दर को जेहि विधि जर्यौ सनेह।
वारे ही ते भई विरत चित तज्यौ गाँउ गुण नेह ॥
एकहि चरण रही हों ठाढ़ी हिम ग्रीषम ऋतु मेह ॥
तज्यो मूल साखा त्यों पत्रनि सोच सुखानी देह।
अगिनि सुलाकत मुर्यौ न मन, अंग विकट बनावत बेहु ॥
बकती कहा बाँसुरी कहि-कहि करि-करि तामस तेहु।
सूर स्याम इहि भाँति रिझै कै तुमहु अधर-रस-लेहु ॥४३॥४२४॥

सूरसागर (ना प्र०स०, १९४८)

ऐसा तप जिसने किया हो, ऐसे सन्ताप जिसने सहन किये हों, इतने कठोर व्रत का जिसने पालन किया हो, वह विजय क्यों न प्राप्त करे ? जिसने स्वयं दारुण नियम-बन्धन स्वीकार किये हैं, अपने ऊपर शासन किया है, वह क्यों न नियामक और शासक बन कर आज्ञाओं का प्रचार करे ? मुरली ने संकट-सहिष्णुता में, संयम-साधन में, पञ्चाग्नि तपने में विजय प्राप्त की है। यशोभिमण्डित होकर, विजय वैजयन्ती से विभूषित होकर आज वंशी ने कृष्ण-कर में स्थान पाया है। सूर गाते हैं :—

वंशी बन राज आज आई रण जीति।
मेंटति है अपने बल सबहिन की रीति ॥
बिडरे गज-यूथ-सील, सैन लाज भाजी।
घूँघट-पट-कवच कहाँ, छूटे मान-ताजी ॥
कोऊ पद परसि गये अपने-अपने देस।
कोऊ मारि रंक भये हुते जे नरेस ॥

देत मदन मारुत मिलि दसो दिसि दुहाई ।
सूर स्याम श्री गोपल वंशी बस माई ॥३५॥ पृष्ठ १८९

सूरसागर (ना०प्र०स० १२६८)

यह वंशी आज सब पर अपना अबाध अधिकार स्थापित कर रही है। गोपाल को तो इसने वश में ही कर लिया है, अतः उनके बशीभूत होने पर उनके अनुचर अपने आप वंशी के वश में हो गये। लज्जा, शील, मान आदि सब वंशी के सामने पराजित हो अपना-अपना प्रभुत्व छोड़कर भाग गये। जो अपने देश में रहना चाहते थे, उन्हें वंशी के आगे मत्था टेकने पर रहना नसीब हो सका। वंशी के आगे अकड़ कर चलने वाले राजा धूल-धूसरित हो कर दीन-हीन दशा में काल-यापन करने लगे। मदन-मारुत दशौ दिशाओं में आज वंशी की दुहाई फेर रहा है। यह है वंशी रूपी अनहद नाद की शून्य गगन में दुहाई ! शब्द-ब्रह्मा के प्रकट होने पर आँतरिक शक्ति का जागरण ! जिसके उदय होने पर बाह्य सांसारिकता प्रसुप्त हो जाती है। भगवद् भक्ति प्राप्त हो जाने पर शील, संकोच आदि नियमों के पालन की आवश्यकता नष्ट हो जाती है।

जिस मुरली ने इतना विशाल संसार-समरांगण विजय किया है, उसका राज्याभिषेक होना ही चाहिए। सूर लिखते हैं:—

माई री मुरली अति गर्व काहू बदति नाहि आज।
हरि को मुख कमल देख पायौ सुख राज ॥
बैठति कर पीठ ढीठ अधर छत्र छाँहीं ।
चमर चिकुर राजत तहं सुन्दर सभा मांही ॥
यमुना के जलहिं नहिं जलधि जान देति ।
सुर पुर ते सुर विमान भुवि बुलाई लेति ॥
स्थावर चर जंगम जड़ करति जीति अजीति ।
वेद की विधि मेंटि चलति आपने ही रीति ॥
वंशी बस सकल 'सूर सुर' नर मुनि नाग ।
श्री पति हूं श्री बिहारी एही अनुराग ॥३७॥पृष्ठ १८९ ।

सूरसागर (ना०प्र०स० १२७१)

मुरली गर्व में भरी हुई आज अपने सामने किसी को कुछ नहीं समझती। आज उसका राज्याभिषेक जो होना है। वह देखो, भगवान के कर कमल

ही चौकी (पीठ सिंहासन) का काम कर रहे हैं। इस चौकी पर मुरली विराजमान हो गई। श्याम के अधरों का छत्र उसके ऊपर तन गया काले-काले घुंघराले बाल चमर का काम कर रहे हैं। सुन्दर दरबार लगा हुआ है। अभिषेक में जल की भी आवश्यकता है। अतः जमुना रोक ली गई है। स्वर्ग से देवताओं के विमान भी नीचे उतर आये हैं। जड़–जंगम समस्त जगत पर इस वंशी का साम्राज्य फैला हुआ है। तो क्या आज भी वेद के विधि निषेध वाले उपदेश अपना काम करेंगे ? नहीं, यहाँ पराविद्या का क्षेत्र है। विधि-निषेध तो अपरा–विद्या के अंग हैं। परा-विद्या में प्रवेश कर आत्मा सुर-नर मुनि-नाग सब का उर्ध्वस्थानी, सबका शिरोमणि बन जाता है। और वे श्री के स्वामी, प्रकृति के अधिष्ठाता, माया–पति अपनी स्री और लक्ष्मी, शक्ति और प्रकृति का परित्याग करके इसके अनुराग में स्वयं अनुरक्त हो जाते हैं।

वंशी ने विजय प्राप्त की। उसका राज्याभिषेक भी हो गया। कवि कविताओं द्वारा उसका यशोगान गाने लगे। सूत, मागध और बन्दीजन, शिव सनक और सनन्दन उसका जयजयकार करने लगे:—

जीती–जीती है रन वंसी।
मधुकर सूत बदत बन्दी पिक मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यौ मान बल दर्प महीपति युवति यूथ गहि आने।
ध्वनि कोदण्ड ब्रह्मांड भेद करि सुर सम्मुख सर ताने॥
ब्रह्मादिक सिव सनक सनन्दन बोलत जै-जै बाने।
राधापति सर्वस अपुनो दै पुनि ता हाथ बिकाने।५६। पृ०३४७

सूरसागर (ना०प्र०स० १६८८)

वंशी पर सूर ने कितनी उदात्त कल्पनायें की हैं। वंशी के बहाने उन्होंने आँतरिक शक्ति के जागरण का, अपनी प्रतिभा के बल से, चारु चित्र चित्रित कर दिया है। वंशी पर सूर की वह कल्पना भी उत्तम है, जिसमें उन्होंने वंशी को ब्रह्मा से भी बढ़कर सिद्ध किया है। "बाँसुरी विधिहू ते परवीन" सूरसागर (ना०प्र०स० १८६५) टेक वाले पद में सूर लिखते हैं कि ब्रह्मा चार मुख से उपदेश देता है, पर वंशी अपने आठ मुखों (रन्ध्रों) से उपदेश दे रही है। कहिये ब्रम्हा का बनाया नियम चलेगा, या वंशी का ? और देखिए, ब्रह्मा का स्थान एक कमल के ऊपर, वंशी का दो कर-कमलों के ऊपर ! ब्रह्मा केवल एक बार ही पढ़कर ज्ञाता बने, वंशी के साथ कृष्ण निरन्तर लगे रहते हैं। ब्रह्मा एक हंस की सवारी करते हैं, वंशी अनेक गोपी-मानश-हंसों पर सवार

रहती है। और सबसे बढ़कर बात तो यह है कि लक्ष्मी जिस भगवान की पद-रेणुका की कामना करती है, वंशी उन्हीं भगवान के अधरामृत का पान करती है। कहिये, इस वंशी के आगे शिखा-सूत्र रक्षित रह सकते हैं? कुल-मर्यादा बच सकती है? इन पदों को पढ़कर आप मुरली को योगमाया कहिये या नाम लीला का रूप, शब्दब्रह्म कहिये या आँतरिक ज्योति का जागरण। है यह अतीव आनन्दरूपिणी[1]।

एक पद और देखिये। मुरली-ध्वनि से प्राप्त आनन्द कहने-सुनने की तो वस्तु नहीं है, पर अनुभव करने की वस्तु अवश्य है। जो इसे अनुभव कर लेता है, वह आचार्य वल्लभ के शब्दों में ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर आनन्द उपलब्ध करता है :—

बंशी बन कान्ह बजावत।
आइ सुनौ श्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत।
सुर श्रुति तान बंधान अमित अति सप्त अतीत अनागत आवत।
जनु युग जुरि वर वेष सजल मथि बदन-पयोधि अमृत उपजावत॥
मनो मोहिनी भेष धरे धरि मुरली, मोहन मुख मधु प्यावत।
सुर-नर-मुनि बस किये राग-रस अधर-सुधा-रस मदन जगावत॥
महा मनोहर नाद 'सूर' थर-चर मोहे मिलि मरम न पावत।
मानहुं मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख, सीस डुलावत॥
सूरसागर (ना० प्र० स० १२६६)

मोहन की मुरली बज रही है। उसमें से अनेक राग-रागिनियाँ निकल रही हैं[1]। बिजली का बटन दबा दिया गया। जहाँ-जहाँ उसका संबन्ध है और

१—निवाज मुरली के प्रभाव का वर्णन करते हुए लिखते हैं :—

सुनती हौ कहा धर जाहु चली बिधि जाऊंगी नैन के बानन में।
यह वंशी 'निवाज' है विष की भरी बगरावति है विष प्राननी में।
अब ही सुधि भूलोगी सारी जबै भमरोगी जु मीठी सी तानन में॥
कुल कानि जो आपनी राखी चहो दोउ आंगुरी दै रहौ कानन में॥

रवीन्द्र ने एक स्थान पर लिखा है :—मेरे प्रभु, मैंने तेरे संगीत-स्वर को सुना, वह स्वर मेरे प्राणों में समा गया है, और मैं विवश होकर उसे सबको सुनाता फिरता हूँ।

बल्ब लगे हुये हैं, सब विद्युत प्रकाश से प्रकाशित हो गये। मुरली का बजना बटन का दबना है। तभी तो समस्त संगीत का संसार झनझना उठा, सुप्त से जागृत हो गया। समस्त स्वरावली, श्रुतियाँ, तानें, मीडें, मूर्छनायें, अतीत के और भविष्य के सप्त स्वरों के विगत और आगामी रूप—सब के सब प्रकाशित हो उठे। कैसा मीठा वंशी का स्वर है, मानों कृष्ण अपने दोनों हाथों से मुरलिका-वादन रूपी मंथन के द्वारा मुख रूपी समुद्र में से ध्वनि रूपी अमृत निकाल-निकाल कर सबको पिला रहे हों। इस अमृत को पीकर चर-अचर सकल विश्व तृप्त हो गया, पर इसके रहस्य को न समझ सका। जो समझे, वे भी कह न सके। गूंगा आदमी मिठाई खाकर उसके स्वाद को कैसे बतावे? मूक प्राणी मुख द्वारा कैसे वर्णन करे? हाँ, शिर हिला देगा। यह विश्व हिलती हुई वृक्ष-शाखाओं के रूप में केवल शिर हिला कर रह गया :—

समाधि निर्धूत मलस्य चेतसः निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तः करणेन गृह्यते॥

गोपियाँ

/ सूरसागर प्रधान रूप से हरिलीला का काव्य है। हरिलीला गोकुल गोपियों की लीला है। राधा और कृष्ण भी गोपी-गोप हैं। राधा वृषभानु गोप की पुत्री थी, और कृष्ण को यशोदा तथा नन्द अपना और सपुत्र ही समझते थे। कृष्ण ने स्वयं अपने मुख से कहा है:—

मथुरा मण्डल भरत खंडनिज धाम हमारौ।
धरों तहाँ मैं गोप भेष सो पन्थ निहारौ॥पृ०३६४, छ०६१

सूरसागर (ना०प्र०स० १७९३)

श्रीकृष्ण का अवतार गोप रूप में ही हुआ था। 'हरिलीला औरपुराण, शीर्षक अध्याय में हम दिखला चुके हैं कि भगवान का गोप रूप में अवतार कवि-कल्पना-प्रसूत है। आर्य जाति में यह अवतारी रूप वेदवेत्ता वासुदेव कृष्ण के साथ संबद्ध होकर समय की आवश्यकता के अनुसार स्वीकृत हुआ। सूरसागर में प्रभु के इसी अवतारी रूप की लीलायें वर्णन की गई हैं।

/ यदि कृष्ण ईश्वर है, तो गोपियाँ क्या हैं? गोपियाँ उन्हीं की शक्ति हैं। शक्ति अपने आश्रय से कभी पृथक नहीं होती, अतः कृष्ण और गोपियों

में कोई अन्तर नहीं हैं। एक गुणी है, दूसरा गुण; एक अंग है दूसरा उसका अवयव। सूर ने लिखा है:—

गोपी ग्वाल कान्ह दुई नाहीं ये कहुँ नेंकु न न्यारे।

तथा

एकै देह विहार करि राखे गोपी ग्वाल मुरारि। पृ० २५०, पद ८४
सूरसागर (ना०प्र०स० २२२३

अर्थात गोपी, गोप और कृष्ण दो-दो नहीं हैं, भिन्न-भिन्न नहीं हैं, इनमें तनिक भी अंतर नहीं है, एक ही हैं, एक ही शरीर के पृथक-पृथक अंग हैं।

अध्यात्म पक्ष में कृष्ण आत्मा हैं, तो गोपियाँ इस आत्मा की वृत्तियाँ हैं। तभी तो सूर इन ब्रजललना गोपियों को अपनी स्वामिनी कहते हैं :—
सूर की स्वामिनी नारि ब्रजभामिनी। पृष्ठ ३४४ पद २८
सूरसागर (ना०प्र०स० १६६०)

परन्तु आत्मतत्व के एक होते हुए भी वृत्तियाँ अनेक और भिन्नरूपा हैं, इसीलिए भागवत और सूरसागर दोनों में उनके कई स्पष्ट रूप लक्षित होते हैं। भागवत दशम स्कन्ध, अध्याय १८ श्लोक ११ में लिखा है: 'गोपजाति प्रतिच्छन्ना देवागोपाल रूपिण:—— अर्थात गोपी और गोपों के रूप में देव ही प्रकट हुए हैं। सूरसागर के नीचे लिखे पद से भी इस बात का समर्थन होता है—

यह बानी कहि सूर सुरन को अब कृष्णावतार।
कह्यौ सबनि ब्रज जन्म लेहु संग हमरे करहु विहार॥
सूरसागर (ना०प्र०स० २२२२)

अर्थात जब पृथ्वी पर पाप का भारी बोझ लद गया, तो देवताओं ने भगवान से प्रार्थना की। भगवान ने कहा, 'मैं गोकुलमें गोप रूप में प्रकट होता हूँ। राक्षसों को मारकर पृथ्वी का भार दूर करूँगा। तुम भी ब्रज में चलकर जन्म ग्रहण करो।' फिर इसी के आगे वाले पद में लिखा है कि भगवान ने जिन देवों को आज्ञा दी थी, वे गोपी-गोप के रूप में ब्रज में उत्पन्न हुए।

भगवान की प्रकृति स्वरूपा तथा देव-विग्रही गोपियों के अतिरिक्त कुछ गोपियाँ ऐसी भी थीं जो पूर्व जन्म में देव-कन्याओं, श्रुतियों, तपस्वी ऋषियों या भक्तजनों के रूप में रह चुकी थीं और भगवान की सेवा करने के लिए उनके साथ अवतीर्ण होना चाहती थीं। पुराणों में इनकी कथायें बिखरी पड़ी हैं। पद्म पुराण के पाताल खण्ड अध्याय ७२ में लिखा है कि पञ्चदशाक्षर मन्त्र का जाप करने वाले तपस्वी उग्रतपा नाम के ऋषि, सुनन्द नाम के गोप की कन्या सुनन्दा के रूप में उत्पन्न हुए। दशाक्षर मन्त्र का जाप करने वाले सत्यतपानाम के मुनि सुभद्रा में प्रकट हुए। निराहारी हरिधामा सारंग गोप के घर रंगवेणी नाम से अवतीर्ण हुए। इसी प्रकार जबालि तथा कुशध्वज चित्रगन्धा और सुभीरा के रूप में उत्पन्न हुए। पद्मपुराण पाताल खण्ड अ० ७४ श्लोक ११५ में अतः परं मुनिगणाः तासां कतिपया इह' कहकर पुनः यही नाम संक्षेप में लिख दिए गए हैं।

सूरसागर के दशम स्कन्ध, पृष्ठ ३६३, पद ६१ में सूर ने गोपियों को वामन पुराण के ब्रह्मा-भृगु-सम्वाद के आधार पर वैदिक ऋचाओं का अवतार कहा है:—

ब्रज सुन्दरि नहिं नारि, ऋचा श्रुति की सब आहिं ॥
मैं 'ब्रह्मा' अरु शिव पुनि लक्ष्मी तिन सम कोऊ नाहिं ॥

कहते हैं, जब ऋचायें नेति—नेति के द्वारा परमात्मा का वर्णन करते रहने पर भी उसके रहस्य को न समझ सकीं, तो प्रभु से प्रार्थना करने लगीं:-

श्रुति बिनती करि कह्यौ सर्व तुम ही हौ देवा।
दूरि निकट हौ तुमहिं, तुम्हीं निज जानत भेवा ॥

इस प्रकार स्तुति करने पर आकाशवाणी हुई कि अपनी इच्छा के अनुरूप वर माँग लो। ऋचाओं ने कहा:—

श्रुतिन कह्यौ कर जोरि सने आनन्द देह तुम।
जो नारायण आदि रूप तुम्हरो सो लखौ हम ॥
निर्गुण जो तुम रूप है लख्यौ न ताकौ भेद।
मन वाणी ते अगम अगोचर दिखरावहु सो देव ॥

सूरसागर (ना० प्र० स० १७९३)

प्रभो, आपके नारायण रूप को तो हमने देख लिया है, परन्तु अभी तक आपके उस निर्गुण रूप के दर्शन नहीं हुए, जो मन वाणी आदि किसी भी

इन्द्रिय का विषय नहीं है। अपने उसी रूप के दर्शन कराओ। भगवान ने वर दान दिया, 'एवमस्तु' और वेद ऋचा होई गोपिका हरि सों कियो बिहार अर्थात वैदिक ऋचायें गोपियों के रूप में प्रकट हुईं। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म कृष्ण के दर्शन ही नहीं किए, उनके साथ बिहार का आनन्द भी लूटा। इन ऋचाओं के नाम उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलकण्ठिता और विपञ्ची आदि थे। आचार्य वल्लभ ने भी श्रीमद्‌भागवत पर लिखी हुई अपनी सुबोधिनी नाम की टीका में 'श्रुत्यन्तर रुपणां गोपिकानाम्' लिखकर गोपियों का ऋचारूप ही कहा है।

वल्लभ ने एक स्थान पर गोपियों को लक्ष्मी का अंश और उसके साथ विचरण करने वाली कहा है। सूरसागर के रासलीला प्रसंग में भी लगभग ऐसी ही बात लिखी हुई है। राधा का गर्व दूर करने के लिए कब कृष्ण अंतर्धान हो गये, तो राधा वियोग से व्यथित एवं मूर्छित होकर गिर पड़ी और गोपियाँ भी विलख-विलख कर रोने लगीं। सूर ने गोपियों की इस पीड़ा का वर्णन करते हुए लिखा है:—

"सोरह सहस पीर तन एकै राधा जिव सब देह।"

अर्थात सोलह सहस्र गोपियों और राधा की पीड़ा पृथक-पृथक नहीं है। राधा प्राण है, तो गोपिकायें शरीर। दोनों का दर्द एक है। यहाँ भी गोपिकायें राधा का ही रूप हैं। राधा और लक्ष्मी के नाम के अतिरिक्त अन्य कोई अन्तर नहीं है, यह हम पीछे दिखा आये हैं।

वैष्णव आचार्यों ने कृष्ण की अन्तरंग और बहिरंग दो शक्तियाँ मानी हैं। बहिरंग शक्ति का नाम माया है और अन्तरंग शक्ति तीन प्रकार की है: सन्धिनी, संवित और ह्‌लादिनी। राधा ह्‌लादिनी शक्ति है और गोपियाँ उसी का प्रतिरूप हैं। आचार्य वल्लभ ने 'असौ संस्थितःकृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहितः'—कहकर इसी बात को सिद्ध किया है। अतः राधा के अंग रूप में ही गोपियों को समझना चाहिए।

गोपियों के साथ एक कथा का समावेश और किया जाता है। कहते हैं, जब दण्डकारण्य में ऋषिगण भगवान के रामावतार वाले रूप को देखकर मुग्ध हो गये और उन्होंने उनकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना की, तो भगवान ने

उन्हें गोपी होकर प्राप्त करने का वर दे दिया । यही ऋषि ब्रज में गोपी रूप में अवतीर्ण हुये ।

इस प्रकार गोपियाँ भिन्न-भिन्न रूपा थीं । उनमें कुछ देव कन्यायें थीं कुछ ऋषि थे, कुछ ऋचायें थीं और कुछ स्वयम् प्रभु की अन्तरंग शक्तियाँ थीं। इन सबकी मण्डली गोपियों के रूप में ब्रज में एकत्र हुई। इसी हेतु इन गोपियों के पृथक-पृथक समूह हैं। विशाखा, ललिता, श्यामा आदि एक-एक समूह की स्वामिनी हैं। सूर ने निम्नांकित पद में गोपियों के नाम लिखे हैं:—

श्यामा, कामा, चतुरा, नवला, प्रमुदा, समुदा नारी
सुखमा, शीला, अवधा, नन्दा, वृन्दा, यमुना, सारी ।।
कमला, तारा, विमला, चन्दा, चन्द्रावलि, सुकुमारी ।
अमला, अबला, कञ्जा, मुकुता, हीरा, नीला, प्यारी ।।
सुमना, बहुला, चम्पा, जुहिला ज्ञाना, भाना, भाऊ ।
प्रेमा, दामा, रूपा, हन्सा, रंगा, हरषा, जाऊ ।।
रत्ना, कुमुदा, मोहा, करुना, ललना, लोभानूपा ।। पृ०२९७, पद८०
सूरसागर (ना०प्र०स० २६२६)

ये नाम तो थोड़े हैं, सूर ने गोपियों की संख्या निम्नांकित पद में सोलह सहस्र लिखी है:—

मुरली ध्वनि करी बलवीर ।
गइ सोलह सहस हरि पै छाँड़ि सुत पति नेह ।।३४०, पद ९३
सूरसागर (ना०प्र०स०१६२५

माखन-चोरी

ब्रज में कृष्ण की दश-बारह वर्ष तक की बाल्यावस्था व्यतीत हुई । इस अल्पायु में ही क्या से क्या हो गया ! कृष्ण सुन्दरता के सागर तो थे ही, साथ ही चञ्चल और चतुर भी थे । गोपियाँ उनके सौंदर्य को देख-देख कर मुग्ध होने लगीं । सौन्दर्य-मण्डित सुकुमार बालक को देखकर सबका मन उसे खिलाने के लिए मचल जाता है, और जो पदार्थ उसे प्रिय प्रतीत होत है, उसी पदार्थ को उसके समक्ष प्रस्तुत करने में प्राणी परम सौभाग्य समझते हैं । कृष्ण की भी कुछ ऐसी ही कहानी बन गई । जिसे देखो, वही कृष्ण को

देखने के लिए तरस रहा है। किसी न किसी बहाने श्याम का दर्शन होना ही चाहिए। कृष्ण को मक्खन बहुत अच्छा लगता था। सूरसागर में कृष्ण यशोदा से कहते हैं:—

> मैया री मोहि माखन भावे।
> जो मेवा पकवान कहति तू मोहि नाहीं रुचि आवै॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० ८८२

श्याम की इस सलौनी बात को पीछे खड़ी एक गोपी सुन रही थी। वह मन ही मन कामना करने लगी, 'मैं कब इन्हें अपने घर माखन खाते देखूँगी?' दूसरे ही दिन "गये श्याम तिहि ग्वालिनि के घर"–कृष्ण उसके घर पहुँच ही तो गये। अपनी मनोकामना सफल समझ कर गोपी को इतना आनन्द हुआ कि वह फूली न समाई। उसे इतना आनन्दित देखकर सखियों ने पूछा, 'कहीं कुछ पड़ा हुआ मिल गया क्या?' गोपी गद्‌गद् हो गई और प्रेम-विह्वल होकर कहने लगी: 'देख्यो रूप अनूप।' यह था उस कृष्ण का अनुपम लावण्य जो सबको अपनी ओर आकर्षित करता था।

मक्खन-विलासी की चर्चा घर-घर होने लगी, गोपियाँ उठते बैठते गोपाल की श्यामल छवि में मग्न रहने लगीं। रात को दही जमातीं, तो श्याम सुन्दर की माधुरी छवि का ध्यान करते हुए। सबकी यही अभिलाषा रहती कि दही अच्छा जमे और उसे बिलोकर श्रीकृष्ण के लिए बढ़िया और बहुत-सा माखन निकाला जाय। कृष्ण अपने सखाओं के साथ उसे खावें और आनन्द में मत्त होकर आंगन में नाँचें। ऐसे मोहक बालक की बाललीला देखने के लिए कौन लालाइत न होगा? ब्रज की माखन-चोरी वाली लीला का महत्व हृदय की इसी मनोरम वृत्ति में छिपा पड़ा है।

रातों-रात जाग कर गोपियाँ प्रातः काल की प्रतीक्षा करतीं। ब्राह्मा-याम में ही दही बिलोने की घररघरं ध्वनि ब्रज के वायुमण्डल में फैल जाती। मक्खन निकाल कर छींके पर रख दिया जाता और कृष्ण की बाट जोहने में सबकी सब सतर्क। कृष्ण आये। आज पहली बार मक्खन चुराया जा रहा है। सूर लिखते हैं:—

> प्रथम करी हरि माखन चोरी।
> ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन, आपु भजे ब्रज खोरी॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स०, ८८६)

कृष्ण ने मक्खन चुराया और भाग कर ब्रज की गलियों में छिप गए। धीरे-धीरे वे मक्खन-चोरी में निपुण हो गये, घर-घर में उनकी चोरी की चर्चा होने लगी:—

ब्रज घर-घर प्रकटी यह बात।
दधि-माखन चोरी करि लै हरि, ग्वाल सखा सँग खात॥
ब्रजबनिता यह सुनि मन हरषित, सदनु हमारे आवें।
माखन खात अचानक पावें भुज भरि उरहि छिपावें॥
मन ही मन अभिलाष करति सब हृदय धरति यह ध्यान।
सूरदास प्रभु को घर में लै, दैहौं माखन खान॥

सूरसागर (ना०प्र०स०, ८९०)

माखन-चोरी से गोपियाँ रुष्ट नहीं होती थीं, मन-ही-मन प्रसन्न होती थीं। कृष्ण का घर में आना उनके आल्हाद का कारण था। गोद में लेकर कृष्ण को मक्खन खिलाने के लिए सब गोपियाँ लालायित रहती थीं। नीचे लिखे पद में सूर ने गोपियों की इस मनोवृत्ति का कितना सुन्दर चित्र अंकित किया है:—

चली ब्रज घर घरनि यह बात।
नन्द सुत सँग सखा लीन्हें, चोरि माखन खात॥
कोउ कहति मेरे भवन भीतर, अबहि पैठे धाइ।
कोउ कहति मोहि देखि द्वारे उतहि गये पराइ॥
कोउ कहति किहि भाँति हरि को देखौं अपने धाम।
हेरि माखन देउँ आछौ खाइ जितनों स्याम॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अंकवार।
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं को सकै निरुवार।
सूर प्रभु के मिलन कारण करति विविध विचार॥
जोरि कर विधि कों मनावति पुरुष नन्दकुमार॥

सूरसागर (ना० प्र० स०, ८९१)

सूर के गीत की इन कड़ियों के विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। एक-एक बात शब्दों द्वारा प्रकाश करती हुई सामने आ रही है। कृष्ण-दर्शनोत्सुक गोपियों की भावना का इससे अधिक सुन्दर चित्र कोई बना नहीं सकता।

कृष्ण-दर्शन लालसा से भी कभी गोपियाँ यशोदा के घर पहुँच जातीं, माखन-चोरी का उलाहना दिया जाता। एक दिन कृष्ण पकड़ गये, कुछ मक्खन खा लिया था, जो मुख से चिपटा था, और हाथ में था दौना। शिकायत हुई, तो चतुर, लीला-विलासी, नटवर कृष्ण यशोदा से कहने लगे:—

मैंया मैं नहिं माखन खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुँह लपटायो॥
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नन्द नन्दन दौना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि मुसकाइ तबहिं गहि सुत को कण्ठ लगायौ॥
सूरसागर (ना०प्र०स०, ९५२)

माँ, मैंने मक्खन नहीं खाया। मालूम होता है, इन सखाओं ने मेरे मुख में लगा दिया है। अच्छा तू ही सोंच, घर में ऊँचे सीके पर रक्खे हुए मक्खन को मैं अपने छोटे हाथों से कैसे पकड़ सकता था? कैसा अकाट्य तर्क है। और चातुर्य भी देखिये, इतना कहते-कहते मुख से लगा हुआ मक्खन पोंछ डाला, अब तो मक्खन खाने की चुगली करने वाला चिन्ह भी नहीं रहा। पर वह मक्खन का दौना? वह भी पीठ के पीछे कर लिया। बताओ क्या प्रमाण कि कृष्ण ने माखन चोरी की? यशोदा ही नहीं, कोई भी माँ अपने बच्चे की इस चतुरता पर सौ-सौ बार बलि जायेगी। कैसा भोला भाला निष्पाप रूप है कृष्ण के बालकाल का। उसमें विचित्र बुद्धि का योग देकर सूर ने मानव-मन से आल्हाद के लिए पूर्ण सामग्री उपस्थित कर दी है।

अध्यात्म पक्ष में मक्खन है जीवात्माओं के समस्त सुकृतों का फल। भगवान भक्त के इसी सुफल पर अनुरक्त होते हैं। इधर भक्त अपने समग्र पुण्य फल को प्रभु की भेंट करते जाते हैं, उधर भगवान उसे 'चुरा-चुराकर' अपने अन्दर रखते जाते हैं। यदि फल-प्राप्ति भक्त के माथ बनी रहे, तो किसी दिन अहंकार का कारण बनकर उसे नीचे गिरा सकती है। अतः समर्पण होना ही चाहिए अथवा भगवान स्वयं अपने अनुग्रह–भाजन भक्त की इस निधि को उससे दूर करते जाते हैं। यह भी भक्त पर उसका अनुग्रह ही है।

चीर-हरण और दान-लीला

चीर-हरण की लीला अध्यात्म पक्ष में आत्मा का नग्न होकर, माया के आवरणों, साँसारिक संस्कारों से पृथक होकर प्रभु से मिलना है। इसमें

समर्पण की सम्पूर्णता है, जिसमें अपना कुछ नहीं रहता, सब कुछ प्रभु का हो जाता है।

सूरसागर में राधा तथा अन्य गोपियाँ इस उत्सर्ग की आयोजना में जुट जाती हैं। सबकी आकाँक्षा है—कृष्ण की प्राप्ति हो। राधा शिवाराधन करती हैं। गोपियाँ गौरी से प्रार्थना करती हैं। सूर्य की स्तुति होती है,कात्यायनी देवी की बालुकामयी मूर्ति बनाकर पूजा की जाती है, मन्त्रों का जप चलता है, मार्गशीर्ष के शीतकाल में प्रातःकाल उठकर यमुना में स्नान किया जाता है। ये समस्त आयोजन किसलिए हैं केवल कृष्ण की प्राप्ति के लिए:—

सिव सो विनय करति कुमारि।
जोरि कर मुख करति अस्तुति बड़े प्रभु त्रिपुरारि॥
सीति-भीति न करति सुन्दरि, कृस भयी सुकुमारि।
छहौ ऋतु तप करत नीके, ग्रह को नेह बिसारि॥
ध्यान धरि, कर जोरि,लोचन मूँदि यक-यक याम।
विनय, अंचल छोरि, रवि सों करति है सब बाम॥
हमहि होहु कृपालु, दिन मणि, तुम विदित संसार।
काम अति तनु दहत, दीजै सूर स्याम भतार॥६॥ पृष्ठ १९६।

सूरसागर (ना०प्र०स०, १३८५)

तपस्या में इतनी दृढ़ता देखकर भी क्या भगवान द्रवित न होंगे? जिन गोपियों ने कृष्ण के लिए माता-पिता तक का संकोच न किया, तपश्चर्या की भट्ठी में अपने शरीर को जला डाला, सूखकर काँटा हो गईं, जो शिव और सूर्य के सामने अंचल फैलाकर कृष्ण रूप में पति-प्राप्ति का वर माँग रही हैं, उन्हें अभीष्ट-सिद्धि क्यों न प्राप्त हो? पर अभी, थोड़ी सी कमी है। अभी आत्मा के ऊपर आवरण है। शिव-सूर्य की आराधना रूप साधन भी तो एक परदा है। जब तक यह भी दूर न हो जाय, तब तक समर्पण कैसा?

कहते हैं, साधक केवल अपने बल पर समर्पण नहीं कर सकता। समर्पण रूप क्रिया का करने वाला भी तो स्वयं है। जब वही उसके साथ चिपटी है, तो सम्पूर्ण समर्पण कहाँ हुआ। इसीलिए मुन्डक उपनिषद का ऋषि कहता है:——'येमेवैष वृणुते तेन लभ्यः,' वह पूर्ण काम प्रभु जिसे चुन ले, स्वीकार कर ले, वही उसे प्राप्त करता है। भगवान भक्त का समर्पण-संकल्प स्वीकार करते हैं, तभी पूर्ण समर्पण होता है। आचार्यों ने इसीलिए वैधी

शास्त्र-सम्मत, अनुष्ठानमयी भक्ति का पर्यवसान रागात्मिका भक्ति में किया है। यहीं जाकर समर्पण की क्रिया पूर्णता में परिणित होती है। गोपियों में वैधी भक्ति थी। रागानुगा भक्ति भी उनमें उच्चकोटि की थी। तो फिर विलंब कैसा? विलम्ब था केवल दोनों के बीच में पड़े हुए सूक्ष्म आवरणतन्तु का। वेद कितने सुन्दर शब्दों में इस आवरण का वर्णन करता है:—

> उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
> अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो आदितये श्याम।। यजु०।१२,१२
>
> [मेरे पाप निवारक स्वामी।
> मेरे बन्धन ढीले कर दो, मुक्त हो सकूं अन्तर्यामी।।
> उत्ताम बन्धन शिर में सत का, जिससे ज्ञानानन्द रुका है।
> उसको वहीं खोल दो ऊपर, खेल अनेकों खेल चुका है।।
> मध्यम बन्धन हृदय-बीच में राव-द्वेष फैलाने वाला।
> बन्धन अधम नाभि से नीचे तम से पाप बढ़ाने वाला।।
> बन्धन-रहित, प्रकाश-पुञ्ज हे देव, तोड़ दो बन्धन मेरे।
> पाप-रहित होकर हम जिससे बन जावें, तेरे, हाँ, तेरे।।]

यह है वेदान्त की माया की मोहिनी, कणाद के अणुओं का आवरण, सांख्य की प्रकृति का परदा। यह परदा निकृष्ट, मध्यम और उत्तम तीन प्रकार का है। गोपियाँ निकृष्ट तामसिक आवरण को न जाने कितने जन्म पूर्व दूर कर चुकी हैं। अनेक प्राणियों में वे ऐसी विरल आत्मा थीं, जो पाप से, अशुभ से, पृथक हो जाती हैं। फिर विरलों में भी वे ऐसी विरल थीं जो रागद्वेष से ऊपर उठ जाती हैं। पर अभी आवरण का सूक्ष्म तन्तु चिपटा हुआ है। निकृष्ट और मध्यम दोनों ग्रन्थियाँ टूट चुकी हैं। तम और रज का पर्दा नष्ट हो चुका है। पर उत्तम, सत, का आवरण तो अवशिष्ट है। यही तो है वह प्रथम ग्रंथि वह प्रथम मोहिनी माया, जो आत्मा को परमात्मा से पृथक करती है, वह प्रथम पथ का प्रयाण जो आत्मा को उसने अपने गृह से दूर ले जाता है, गोपियों के साथ यह उत्ताम, यह सत्, यह सूक्ष्म आवरण अभी चिपटा है। बिना इसके दूर हुए अपना घर कहाँ? सूर गा रहे हैं:—

> जमुना जल विहरत ब्रज नारी।
> तट ठाढ़े देखत नन्दनन्दन, मधुरि मुरलि कर धारी।।
> मोर मुकुट, स्रवननि मनि कुण्डल, जलज माल उर भ्राजत।

सुन्दर सुभग स्याम तनु नवघन, बिच बग पाँति विराजत ।।
उर वनमाल सुभग बहु भाँतिन, स्वेत लाल, सित, पीत ।
मनो सूर सरि तट बैठे सुक बरनत बरन जु भीत ।।
पीताम्बर, कटि में छुद्रावलि बाजत परम रसाल ।
सूरदास मनु कनक भूमि ढिग बोलत बचन मराल ।।

सूरसागर (ना०प्र०स० २३७२)

गोपियाँ जल में स्नान कर रही हैं। वस्त्र उतार उन्होंने किनारे पर रख दिये हैं, और यमुना तट पर खड़ा वह मुरली वाला उन्हें एक टक देख रहा है। अपार छवि है इस वंशी वाले की ! जिसने देखा नहीं, वह क्या बोलेगा ? सूर ने गुरु की कृपा से इस बाँके विहारी की बाँकी छबि देखी थी। इसकी ललित लीला के दर्शन किये थे। न जानें कैसे वे यह दर्शन वाली बात सूरसारावली में कह गये। वैसे सूर ने कहा कम है, किया अधिक है। कबीर की भाँति उन्होंने गर्वोक्तियाँ कहीं भी नहीं लिखीं। जो कुछ लिखा, वह उनके दर्शन की सुदृढ़ भित्ति पर आधारित है। उन्होंने हरिलीला देखी और उसी दिन से उसके गायन में निंत हो गये। सूरसागर अथ से इति तक, इसी लीला गान में ओत-प्रोत है:—

'ता दिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद् बन्द ।'

ऐसा सिद्ध, ऐसा द्रष्टा सन्तों में विरला मिलेगा—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्माँ प्रपद्यते,
वासुदेवः सर्वमिति र महात्मा सुदुर्लभः । गीत । ७, १९

यह द्रष्टा सन्त जब कृष्ण की माधुरी छवि का चित्रण करने लगता है, तो विश्वछवि का सीमान्त कर देता है। कृष्ण तट पर खड़े देख रहे हैं। आज, अरे नहीं, वह सर्वदा से तटस्थ हैं, हाथ में मुरली है, वही योगमाया जो सबके ऊपर अपनी मोहिनी डाले हुए है मोर के पंखों का मुकुट, कानों में कुण्डल, वक्षस्थल पर श्वेत कमल के फूलों की माला, जैसे श्यामल शरीर रूपी अभिनव जलधर के बीच में बगुलों की पंक्ति विराजमान हो। फिर कमल, कुन्द,मन्दार, चम्पा और तुलसी की पैरों तक लटकने वाली लम्बी माला, जैसे हरित वर्ण, लाल चञ्चु लिये, काली पीली कण्ठ रेखाओं वाला शुक सभीत होकर गुण-कीर्तन कर रहा हो। और वह पीताम्बर फहरा रहा है, कटि में क्षुद्र घण्टिका परम रसीले स्वर में बज रही है, जैसे स्वर्ण भूमि के पास राजहंस मधुर शब्द कर रहे हों। कैसा भव्य चित्र है ! समस्त रंग, निखिल स्वरावली

सम्पूर्ण लावण्य इसी में निहित है। सुन्दरता के उस स्रोत का वर्णन इससे बढ़कर कोई क्या करेगा ? सूरसागर में सौंदर्य-सृष्टि अद्भुत है, अनाघ्रात है, उसके सौंदर्य-चित्र संसार के साहित्य में बेजोड़ हैं।

ऐसे कृष्ण के सामने गोपियाँ स्नान कर रही हैं, यमुना-स्नान अध्यात्म पक्ष में भक्ति–कल्लोलिनी में अवगाहन करना है। वैधी भक्ति के भी अनुष्ठान रूपी वस्त्र पृथक हो चुके हैं। यह है शुद्ध रागानुगा भक्ति की कलिन्दतनया ! गोपियाँ तल्लीन होकर इसमें डुबकी लगा रही हैं, पर वह देख रहा है। भक्ति रागानुगा ही सही, पर है तो भक्ति ही। परदा उत्तम ही सही, पर है तो वह परदा ! तन्तु सूक्ष्म है, पर है तो वह तन्तु ही। आह यह अभी चिपटा है ! क्या गोपियाँ इस परदे को नहीं फाड़ सकतीं ? कदाचित नहीं। तभी तो, देखो वह वस्त्रों को उठाकर कन्हैया कदम्ब पर जा बैठा। कहता है, गोपियों, निकलो छोड़ो यह सतोगुण का उत्तम परदा भी खूब खुलकर इसके खेल देख लिए, अनेक जन्मों में देखे। अब इनका अंत होना चाहिए। क्या कहा, कैसे निकलें? अरे, अब भी परदा, चलो नग्न, शुद्ध रूप से नग्न होकर, समस्त आसंग छोड़ कर अपने प्रभु से मिलो। वही तो तुम हो, अब आवरण कहाँ रहा ? अब भी झिझक! सूर कहते हैं:—

> प्रिया मुख देखौ स्याम निहारि।
> कहि न जाइ आनन की सोभा, रही बिचारि-बिचारि ।।
> छीरोदक घूंघट हातो करि, सम्मुख दियौ उघारि।
> मनों सुधाकर दुग्ध-सिन्धु तें कढ़्यो कलंक पखारि ।।
>
> सूरसागर (ना० प्र० स० २७३६)

यह लो, भगवान ने वह दुग्ध-धवल, श्वेत सतोगुण का सूक्ष्म घूंघट भी अपने हाथ से दूर कर दिया। आज आत्मा, राधा गोपी का मुखमन्डल अनिंद्य निष्कलंक चन्द्र के रूप में, दूध के समुद्र को चीर बाहर निकला है। माया के तीनों परदे दूर हो गये। जीव आवरण—शून्य, कलंक रहित, शुद्ध आत्मा हो गया। कैसा आकर्षक, मादक और मधुर है राधा–कृष्ण का यह मिलन, आत्मा-परमात्मा का सायुज्य ! कितने मर्मस्पर्शी हैं छीरोदक, दुग्ध सिन्धु और निष्कलंक चन्द्र के प्रतीक। धन्य हैं पारदर्शी सूर ! कैसे सूक्ष्म, भाव ग्राही संकेतों द्वारा तुमने उस परात्पर अवस्था के दर्शन कराये हैं। कबीर, वह इड़ापिंगला, का तानाबाना बुनने वाला, सतोगुण से आविर्भूत हुई एक अलौकिक झलक एक ज्योति के ही गीत गाता रहा। बिना बत्ती और बिना तेल के जलते

हुए दीपक के दर्शन करके उसने अपने आप को धन्य समझा। शून्य गगन के अनहद नाद, खेचरीमुद्रा के गोमाँस, अमृतस्राव का स्वाद चखकर वह तृप्त हो गया, और अनुभूति के आवेश में कहने लगा:—

'दास कबीर जतन सों ओढ़ी, ज्यों की त्यों धरि दीनी चुन्दरिया।'

ठीक है, कबीर, तुमने चुन्दरी में दाग न लगने दिया, पर थी तो यह चुन्दरी ही, सतोगुण की ही सही; इसके बाद क्या था? वह आत्म—दर्शन, परात्पर का दर्शन, समस्त आवरणों को चीर-फाड़कर नग्न होने का दर्शन! अरे वह दुर्लभ है, वह तो विरलों को ही सिद्ध होता है:—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः॥गीता ७, ३

जन्म जन्मान्तर का अथक अभ्यास, प्रपञ्च से वैराग्य, चित्त वृत्तियों का निरोध और सम्पूर्ण रूप से आत्ममग्नता, वह साधन सम्पत्ति है जो आत्मा को परमात्मा से मिला देती है। संतों में कोई विरला भगवान का प्यारा ही इस स्थिति को प्राप्त करता है।

और वह तुलसी? श्रेयपथ का वह मर्यादावादी पथिक! उसे अपने विधि-विधानों से ही अवकाश नहीं मिला। वैधी भक्ति द्वारा वह लोक को उन्नत करने में लगा रहा। धन्य था उसका मार्ग! पर वहाँ भी ये सूक्ष्म संकेत कहाँ? काक, निन्दक, अघी, प्रमत्त, नीच आदि के मध्यम पाश भी वहाँ चिपटे हुए हैं। इन पाशों में सामञ्जस्य करता हुआ, वह सत की झलक भर दिखा के रह जाता है। वह भी साँसारिकता से सम्बद्ध! शुभाशुभ-परित्यागी बनकर त्रिगुणात्मिका प्रकृति के पर्दों से परे, उस ऐकान्तिक अवस्था के दर्शन करना अतीव दुस्तर है। पर सूर, अन्धा सूर, उस परात्पर के दर्शन करता है और सूक्ष्म संकेतों द्वारा दूसरों को कराता भी है।

द्वादश अध्याय

उपसंहार

काव्य की कोटियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इन कोटियों के निर्धारण करने में विद्वानों ने अपनी रुचि विशेष के अनुकूल प्रयत्न किया हैं। किसी को अलंकारमयी रचना अच्छी लगी है, तो किसी को विविध शब्दावलि से विभूषित नाना-छन्द-प्रस्तारमयी कृति ने आकर्षित किया है। किसी को वाच्यार्थं में ही समस्त अर्थों की प्रतीति हुई है, तो किसी को व्यंग्यमयी सूक्तियों में कवित्व के दर्शन हुए हैं। इन सब वादों के होते हुए भी रस को काव्य की आत्मा असंदिग्ध रूप से प्रायः सभी ने स्वीकार किया है।

कुन्तक की वक्रोक्ति और आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त का अभिव्यंजनावाद रस-कोटि के निकट आ गये हैं। महात्मा सूरदास की रचना रसमयी है, इससे तो कोई भी सहृदय पाठक असहमत नहीं है। उनका सूरसागर वस्तुतः वात्सल्य और शृङ्गार रस का अगाध सागर है। एक ही क्षेत्र के विविध-रूप भावों की जो राशि सूरसागर में सन्निहित है, वह अन्यत्र ढूँढ़ने से मिलेगी।

वात्सल्य—वात्सल्य रस की पूर्ण प्रतिष्ठा करने का श्रेय तो महात्मा सूरदास को ही दिया जा सकता है। वे इसी रस के धनी हैं। उनके सूरसागर की प्रख्याति एवं प्रचार के प्रमुख कारणों में उनका वात्सल्य रस का चित्रण

भी है । सूर ने इस रस के समस्त अंग-प्रत्यंगों का वर्णन किया है । वात्सल्य रस के अंतर्गत जितनी मनोदशाएँ तथा क्रीड़ा–कौतुक के विधान आ सकते हैं, उन सबका अत्यन्त हृदयहारी वर्णन सूरसागर में उपलब्ध होता है । बच्चों की छवि और उससे उत्पन्न सुख की राशि का अनुभव, उसके गभुवारे केश, आकर्षक नेत्र, मनोमुग्धकारी तोतली बोली, अपनी छाया को अपने ही हाथ से पकड़ने की इच्छा, अपने मुख-प्रतिबिम्ब को देखकर उसे दूसरा बालक समझना और हाथ का मक्खन उसे खाने के लिए देना, खिलखिलाते हुए आगे के दो दांतों का प्रकाश, हाथ और पैरों की रमणीय शोभा, गीत गागाकर और धीरे-धीरे थपकियाँ देकर बच्चों को सुला देना, बच्चा सोने से जग न पड़े इसलिए माता का संकेतों द्वारा दूसरों से वार्तालाप करना इत्यादि अनेक गार्हस्थ्य-दिनचर्या सम्बन्धी अत्यन्त सामान्य एवं घरेलू बातों का वर्णन सजीव और स्वाभाविक रूप में सूर सागर के अन्तर्गत हुआ है । सूरसागर वात्सल्य रस के चित्रों से ओतप्रोत है ।

शृंगारः—हरि लीला शृङ्गारपरक है और इसलिए वह संयोग और वियोग दो पक्ष रखती है । भ्रमरगीत वियोग–पक्ष को लेकर लिखा गया है । उपालम्भ के इतने सुन्दर चित्र अन्यत्र नहीं मिलेंगे । भ्रमरगीत में व्यंग्य और चित्रात्मकता दोनों ओत-प्रोत हैं । भ्रमरगीत का एक उद्देश्य भी है । यह है ज्ञान के ऊपर भक्ति की, योग के ऊपर प्रेम की और निर्गुण के ऊपर सगुण की विजय स्थापित करना । पुष्टिमार्ग अपने स्वरूप में योग, ज्ञान, कर्म, तप, यज्ञ आदि सभी की निरर्थकता सिद्ध करता हुआ भक्ति को ऊँचा पद देता है । भ्रमरगीत में इसी तथ्य का निरूपण पाया जाता है ।

सूरदास ने युवावस्था की शारीरिक वासनाओं का अपने ढँग से परिष्कार किया है । उसने इन्द्रियजन्य संवेदनाओं को अतीन्द्रिय जगत की मनोहारिणी, काल्पनिक सौंदर्य-धारा में निमज्जित कर दिया है ! उसने कृष्ण का जहाँ–जहाँ रूप-चित्रण किया है, वहाँ-वहाँ उसे अपार्थिव रूप में ही चित्रित किया है । गोपियों के भाव-प्रवण हृदय के सामने कृष्ण सदैव अनिन्द्य, सुन्दर शोभा-सिन्धु के रूप में ही उपस्थित होते हैं । विद्यापति से इस विषय में सूर ने भिन्न पथ का अवलम्बन किया । विद्यापति के एकान्त पार्थिव कृष्ण को सूर ने अपार्थिव बना दिया है । इसी कारण जहाँ सूर के विरह-वर्णन में निराशा ही निराशा परिलक्षित होती है, व हां विद्यापति प्रत्येक पद में गोपियों को आशा का संदेश देते चलते हैं । सूरसागर में गोपियों के प्रेम की पीर गंभीर आँसुओं की कभी न सूखने वाली धारा बनी हुई है । "देखियत कालिन्दी अतिकारी"

इस टेक से प्रारम्भ होने वाला पद इस उक्ति की पुष्टि में उपस्थित किया जा सकता है। सूर का विरह भी सामान्य विरह नहीं है, जो केवल सजीव हृदय को ही पीड़ित करता हो। यह वह विरह जो चेतन, अर्ध चेतन तथा अचेतन सभी को प्रभावित कर रहा है। संयोग के अवसरों पर जब मोहन मुरली बजाने लगते हैं, तो जल, थल अचल, चराचर, झरने, खग-मृग, धेनु, द्रुम, लता, विटप, पवन, सरिता, सभी मोहित हो जाते हैं। वियोग के अवसर पर कालिन्दी मधुवन, गाय, गोसुत आदि भी कृष्ण के विरह का वैसा ही अनुभव करने लगते हैं, जैसा गोप और गोपियों को होता है।

मानवता की विश्वजनीन भावनाओं में विश्वास रखनेवाला हृदय प्रेम से व्याकुल और व्यथित होकर भी अपनी भावना में आनन्द की संभावना कर सकता है, यह भावना व्याकुलता में शीतलता का संचार करती है और विषाद में आल्हाद को आश्रय देती है। मानव जीवन के अधिक निकट यह है भी। सूर ने यद्यपि अपार्थिव एवं अलौकिक सत्ता के प्रति अपनी प्रेमाभिलाषाओं की अभिव्यंजना की है, और इसीलिए उनकी अनुभूतियाँ अत्यन्त तीव्र और मार्मिक बन सकी हैं, परन्तु इसके साथ ही मानव-बुद्धि इसके कारण उलझन और संभ्रम में भी पड़ी है। इस प्रकार की अभिव्यक्ति मानवोचित एवं लौकिक न रहकर रहस्यमयी बन गई है। यह भी ठीक है कि भ्रमरगीत में उद्धव ने जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन गोपियों के सम्मुख किया है, उसके अनुसार वासनाओं की अतृप्ति अथवा निवृत्ति का पथ जीवन सुधार का मार्ग है। सूर ने उद्धव के इस सिद्धान्त का खण्डन किया है और उन्होंने हरिलीला का गायक होने के कारण वासनाओं की शृंगारमयी तृप्ति को साधक ही समझा है। फिर भी स्थान-स्थान पर अलौकिकता की ओर संकेत करते रहने से मानव-मस्तिष्क के लिए कुछ उलझन तो पैदा हो ही जाती है। हरिलीला में प्रभु का अमित सौंदर्य साधकों को बरबस अपनी ओर आकर्षित कर लेता है। सूर ने इस सौंदर्य के लिए अनाघ्रात चित्र खींचे हैं। उसने कहीं-कहीं अन्तहीन विराट सौंदर्य-चित्रों की भी अवतारणा की है और उनकी समता मानव-सौंदर्य से की है। इस प्रकार वे मानव-सौंदर्य की अलौकिकता को वास्तविकता की भूमि पर उतार लाये हैं, प्राकृतिक दृश्यों के प्रेमी जो शृंगारिक चित्रों को पढ़कर नाक भौं सिकोड़ते हैं, यदि ऐसे स्थलों का अनुशीलन करेंगे, तो उन्हें प्रतीत होगा कि मानव सौंदर्य प्राकृतिक सौंदर्य से भी ऊपर उठ सकता है। वस्तुतः जायसी आदि सूफी कवियों ने जिस विराट सौंदर्य का दर्शन प्राकृतिक क्षेत्र में किया, वह मानव के चेतन रूप में भी झलक रहा है। परन्तु इसको दिखाने के लिए सूर और

तुलसी जैसा व्यापक दृष्टि का कवि चाहिए। इन कवियों ने प्रकृति को भी विस्मृत नहीं किया है। तुलसी का चित्रकूट वर्णन, सूर का ब्रज, निकुञ्ज, प्रभात आदि का वर्णन इसके साक्षी हैं। प्रकृति और पुरुष दोनों का समन्वय आर्य संस्कृति की विशेषता रही है और वह इन कवियों की कृतियों में भी विद्यमान है।

व्यंजना—आचार्यों ने व्यन्जना-प्रधान काव्य को सर्वोच्च कोटि का काव्य कहा है। सूरसागर से बढ़कर किसी अन्य व्यंग्य-प्रधान काव्य की खोज असम्भव नहीं, तो कठिन अवश्य है। "सूरसागर और शृंगाररस" शीर्षक अष्टम अध्याय में हम सूर की आध्यात्मिक अभिव्यंजनाओं का पर्याप्त उल्लेख कर चुके हैं। स्व० आचार्य शुक्ल जी ने "नन्द ब्रज लीजै ठोंकि बजाय" टेक से प्रारम्भ होने वाले पद में अत्यन्त सुन्दर भाव-शबलता की अभिव्यन्जना प्रदर्शित की है। सूर का भ्रमरगीत व्यंग्य के सर्वोत्तम उदाहरण उपस्थित करता है।

दृष्टकूट—व्यंजना से मिलती जुलती एक शैली दृष्टकूट की भी है। सूरदास ने अपनी भावराशि को चित्रित करने में इस शैली का भी पर्याप्त प्रयोग किया है। व्यंजना में यदि एक अर्थ से दूसरे अर्थ तक ध्वनि द्वारा पहुँचा जाता है, तो दृष्टकूट में कई शब्दों से एक मुख्य अभिप्रेत शब्द के ग्रहण द्वारा एक नवीन अर्थ प्राप्त किया जाता है, जो प्रयुक्त शब्दों से एकदम पृथक होता है। दोनों शैलियों में इस प्रकार मार्ग-विभिन्नता होते हुए भी एक चमत्कार मयी वक्रता सन्निहित रहती है, जो अभिनव अर्थ को प्रस्तुत करती है। हरिलीला के गायक सूर ने लीला की विनोद-प्रियता को ध्यान में रखते हुये शब्द और अर्थ दोनों के साथ जो विनोद किया है, वह अतीव उपयुक्त है। दृष्टकूट शैली यदि शब्दों के साथ क्रीड़ा करती हैं, तो व्यंजना का विनोद भावों की विविध रूपता में परिलक्षित होता है। 'सूरसौरभ' में सूरसागर की शैली का उद्घाटन करते हुए हमने महात्मा सूरदास की क्रीड़ामयी लीला—प्रधान वृत्ति का प्राचुर्य से वर्णन किया है। जो लीला नित्य और शाश्वत है, वह अक्षर ब्रह्म और भाव ब्रह्म में प्रकट होनी ही चाहिए। सूरसागर में आये हुये दृष्टकूटों को हमने सूरसौरभ के परिशिष्ट २ और ३ में अंकित कर दिया है। सूर की साहित्य लहरी तो प्रमुख रूप से इसी दृष्टकूट शैली में लिखी गई है।

कल्पना—भावों की विशाल भूमिका में विचरण करने के लिए कवि को प्रखर एवं तीव्र कल्पना की आवश्यकता पड़ती है। जिस कवि की कल्पना जितनी ही प्रखर होगी, उतने ही अधिक भावों के चित्र वह उतार सकेगी।

सूर की कल्पना का तो कहना ही क्या ? इसी कल्पना के बल से सूर ने निर्जीव से निर्जीव पदार्थ में जान डाल दी है और साधारण से साधारण वाक्य को गम्भीर अर्थ-सम्पन्न बना दिया है। इसी के सहारे उसने अनेक भाव—चित्रों की अवतारणा की हैं। एक ही दृश्य पर दो कल्पनाओं का चमत्कार देखिये:—

चलत पद प्रतिबिम्ब मनि आँगन घुटुरुवनि करनि।
जलज संपुट सुभग छवि भरि लेत उर जनु धरनि॥

× × ×

कनक भूमि पर कर पग-छाया यह उपमा इक राजत।
प्रति कर, प्रति पद, प्रति मनि वसुधा कमल बैठकी साजत॥

नन्द के भवन में मणि-जटित आँगन है। कृष्ण उसमें घुटनों के बल चल रहे हैं। मणियों पर उनके हाथ, पैर और घुटनों का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। सूर कहते हैं:— यह प्रतिबिम्ब मानों कमल का दोना है, जिसमें श्रीकृष्ण की छवि को भरकर पृथ्वी अपने हृदय में धारण कर रही है। आंगन की स्वर्ग भूमि में जड़े हुये मणियों पर जो हाथ और पैरों का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह कमलों के समान है। आज रत्नों को धारण करने वाली वसुधा ने इन कमलों की पखुड़ियों से अपनी बैठक सुसज्जित की है, और इस बैठक में वह सौंदर्य के सदन स्याम को सरोजासन देकर सम्मानित करना चाहती है। इस कार्य द्वारा वह स्वयं भी सम्मानित हो रही है, क्योंकि आज साक्षात स्वर्ग उसके समीप आ गया है।

मुरली पर सूर ने कई कल्पनायें की हैं। एक कल्पना देखिये और उस पर विचार, कीजिये:——

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नन्द नन्दहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पांय ठाड़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै आवति॥
अति आधीन, सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल कोपि नासापुट हम पर कोपि कुपावति।
सूर प्रसन्न जानि एको छिन अधर सुसीस डोलावति॥"

यहाँ मुरली को एक धृष्ट स्त्री का रूप दिया गया है, जो पति को अपने शासन में रखती है। वह अधिकार पूर्वक आज्ञा देती है, तो पतिदेव श्रीकृष्ण एक पैर से खड़े हो जाते हैं। इस मुद्रा में वह उन्हें देर तक रखती है। श्रीकृष्ण के अंग कोमल हैं, अतः बहुत देर तक एक पैर से खड़े रहने के कारण उनकी कमर टेढ़ी हो जाती है। पर हैं वे स्त्री के वशीभूत, उसके अत्यन्त आधीन। अतः जैसे ही कुछ कहती है, श्रीकृष्ण गर्दन झुकाकर उसे शिरोधार्य करते हैं। इतना ही नहीं, धृष्टता उस समय सीमा का उल्लंघन कर जाती है, जब मुरली (पत्नी) कृष्ण के अधरों को शैया बनाकर लेट जाती है और उनके हाथों से अपने पैर दबवाती है। कृष्ण को यह सब कुछ करना पड़ता है। उनकी भृकुटी टेढ़ी हो जाती है, नासापुट फड़कने लगते हैं। इस रूप में मानों मुरली गोपियों (सपत्नियों) पर स्वयं क्रोध करती है और श्रीकृष्ण से भी कराती है। इस प्रकार द्विगुणित क्रोध उसकी सपत्नियों पर जाकर टूटता है। मुरली बजाने के समय श्रीकृष्ण के अधर और शिर हिलने लगते हैं। इससे उनकी प्रसन्न मुद्रा प्रकट होती है। सूर कल्पना करते हैं कि मुरली उन्हें प्रसन्न देखती है, तो अधर और शिर को भी हिलाने लगती है।

इस पद में जिन शृंगारी भावों की अभिव्यंजना हुई है, क्या सूर के वास्तव में वही लक्ष्य थे? नहीं, थोड़ी देर सोचिये, विचार कीजिये। इन भावों की लपेट में सूर लिख क्या रहे हैं? एक अत्यन्त साधारण बात। मुरली बजाने के समय श्रीकृष्ण की जो त्रिभंगी मुद्रा हो जाती है, सूर उसी मुद्रा का चित्र खींचना चाहते हैं। चित्र पूरा खिंच जाता है, पर पाठक उसे थोड़ी देर में विचार करने के अनन्तर समझ पाते हैं। सूर की यही तो विशेषता है कि वे पार्थिव, मूर्त पदार्थ तक को चेतना के सजीव आवरण में लपेट कर उपस्थित करते हैं, अचर को चर बना देते हैं, प्रकृति को चिति में परवर्तित कर देते हैं।

मुरली के प्रसंग में एक पद और देखिये:—

'ग्वालिनि तुम कत उरहन देहु।
बूझहु जाय स्याम सुन्दर कों जेहि विधि जुर्‌यो सुनेहु॥
बारे ही ते भईं विरत चित, तज्यो गात गुन गेह।
एकहि चरन रही हौं ठाढ़ी, हिम ग्रीसम ऋतु मेह॥

तज्यो मूल साखा स्यों पत्रनि, सोच सुखानी देह।
अगिन सुलाकत मुर्‍यो न मन अंग बिकट बनावत बेह ।।
बकती कहा बाँसुरी कहि-कहि करिन्करि तामस तेहु।
सूर स्याम इहि भाँति रिझै कैं तुमहु अधर रस लेहु ।।'

इस पद में केवल मुरली का बाह्य रूप अंकित हुआ है। किस प्रकार और कैसे उसका निर्माण हुआ, बस यही बात सूर कहना चाहते हैं। पर इतना कहने के लिए वे चेतन जगत की अत्यन्त मार्मिक भाव विभूति को अंकित कर गये हैं। उसे चाहे लौकिक शृंगार की भूमि में रखकर अनुभव कीजिए और चाहे विशुद्ध पुष्टिमार्गीय भक्ति की भाव-भूमिका में पहुँच कर देखिये। अत्यन्त चेतन, सजग और भाव-भरित अवस्था है।

लौकिक शृंगार में पत्नी पति के प्रेम को अनेक कृच्छ साधनायें करने के उपरांत प्राप्त करती है। मुरली ने अपने जीवन काल के प्रारम्भ से ही वैराग्य ग्रहण किया है। अपने गोत्र, गुण और गृह सभी का ममत्व उसने परित्यक्त कर दिया। एक पैर से खड़ी रहकर उसने हिम, ग्रीष्म और वर्षा ऋतुओं में कठोर तपश्चर्या की। चिन्ता में उसका समग्र शरीर सूख गया। अपने मूल, शाखा और पत्तों तक का उसने परित्याग कर दिया। यही नहीं, उसने अग्नि परीक्षा भी दी। बाँस में छेद करने के समय उसे अग्नि में तपाया गया। तब कहीं जाकर वह मुरली बनी, वह मुरली जिसे कृष्ण ने अपने अधरों पर रख—कर सम्मान दिया। गोपिकाओं! क्रोध में आकर और वंशी कह-कहकर तुम उसका क्या तिरस्कार करती हो? यदि तुम्हारे अंदर शक्ति है, तो तुम भी इसी प्रकार की साधना एवं तपस्या करके कृष्ण को रिझा लो और उनके अधरामृत का पान करो।

भक्ति की भूमिका में भगवान को रिझा लेना, अपनी ओर आकर्षित कर लेना, कोई खेल नहीं है। बड़ी रगड़ लगानी पड़ती है। (कोटि जनम लगि रगर हमारी। बरहुँ संभु नत रही कुमारी) सतत अभ्यास करना पड़ता है, बराबर जब एकटक रूप से उधर ही लगन लगी रहे, कष्टों का पहाड़ टूट पड़े, पर लगन न टूटे, तब कहीं जाकर प्रभु का अनुग्रह प्राप्त होता है।

मुरली का निर्माण बताकर सूर हमें कहाँ-कहाँ ले गये। उनकी यही बान है। उनका यही स्वभाव है। वह कविकुल-कमल दिवाकर विशुद्ध-भाव

धारा में अवगाहन करने वाला है। मानसिकता, सजीवता, स्फूर्तिमयता, चेत-नता यही तो उनका क्षेत्र है। जिसने चिति से लेकर महाचिति तक, अवम से लेकर परम चेतन तत्व तक अपने पाठकों को पहुँचा दिया, वह वास्तव में धन्य है, अजरामर है। ऐसे ही कवि शाश्वत काल तक मानव-स्मृति में जीवित रहते हैं।

चित्रात्मकता—सूर ने सौन्दर्य के अनेक चित्र अंकित किये हैं। यह जहां बाह्य छवि से सम्बन्ध रखते हैं, वहाँ आंतरिक सौंदर्य को भी पाठकों के मानस-पटल पर अंकित कर देते हैं। सूर की मर्मभेदी दृष्टि बाह्य आकार तक ही सीमित नहीं रहती, वह उसके अन्तस्तल तक प्रवेश कर जाती है। सूर अपने सामने आये हुये दृश्य को चारों ओर से देखने का प्रयत्न करते हैं। उनकी पैनी दृष्टि बाह्य आवरण को विद्ध करती हुई उसके अन्दर प्रविष्ट हो जाती है और वहां के कोने-कोने की झाँकी लेती है। इतना गम्भीर अवगाहन किसी अन्य मरजीवा कवि के भाग में नहीं पड़ा। बालछवि और मातृ-हृदय की अनुभूति जितने व्यापक रूप में सूरसागर में अंकित हुई है, उतनी और किसी कवि के काव्य में नहीं। सूर यहाँ सबसे ऊँचे खड़े हैं, अतुल, अप्रितम। बाह्य एवं आन्तरिक छवि के चित्र भी चल और अचल रूपों में उपलब्ध होते हैं। कुछ उदाहरण लीजिए:—

लट लटकन, मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उठति मधुप छवि भारी॥

कमल और उस पर बैठे हुए भ्रमर शावकों का कैसा संश्लिष्ट अचल चित्र यहाँ अंकित हुआ है।

चलित कुंडल गंड मण्डल झलक ललित कपोल।
सुधा सर जनु मकर क्रीड़त इन्दु डह-डह डोल॥

सुन्दर कपोलों पर हिलते हुए कुण्डलों की चञ्चल झलक पड़ रही है, मानों अमृत के तालाब में मकर क्रीड़ा कर रहा हो, और चन्द्रमा मन्द गति से घूम रहा हो? चलचित्र का कैसा विचित्र रूप है यह! ये तो बाह्य सौंदर्य के उदाहरण हैं। आँतरिक सौन्दर्य के भी कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं:—

स्याम कहा चाहत से डोलत।
बूझे हू ते बदन दुरावत, सूधे बोल न बोलत।

सूने निपट अंध्यारे मन्दिर दधि भाजन में हाथ ॥
अब कहि कहा बनैहौ उतर कोऊ नाहिन साथ ।
मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे में आयो ।
देखत हौं गोरस में चीटी काढ़न को कर नायो ।
सुनि मृदु बचन निरखि मुख शोभा ग्वालिनि मुरि मुसकानी ।
सूर स्याम तुम हौ रतिनागर,बात तिहारी जानी ॥

एक दिन संध्या के समय कृष्ण किसी गोपी के घर में पहुँचे और दही के मटके में हाथ डाल दिया । उसी समय गोपी ने उन्हें देख लिया और पकड़कर बोली 'कहिए हजरत' अब आप क्या उत्तर देते हैं ?' एक तो अंधेरा, दूसरा अकेले, झट कृष्ण को एक बात सूझी । वे बोले:— 'मैंने तो समझा था कि यह मेरा घर है । दही के मटके में चीटी पड़ गई थी, उसे निकालने के लिये मैंने उसमें अपना हाथ डाल दिया ।' यह सुनते ही गोपी मुड़कर हँसने लगी । यह है आन्तरिक मन का सौन्दर्य, बुद्धि का वैभव अन्तस्तल का चातुर्य । इसी प्रकार :—

मैंया मैं नाहीं माखन खायो ।
'ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो ।'

आदि पद के अनुसार मुख पर लगे हुए दही को तुरन्त पोंछ डालना और दोने को पीठ के पीछे छिपा लेना, कृष्ण के आंतरिक सौन्दर्य को प्रकट कर रहा है ।

कृष्ण के इसी बाह्य एवं आँतरिक सौन्दर्य को अनुभव करके गोपियाँ यह अभिलाषा करने लगी थीं :—

कोउ कहति केहि भाँति हरि को देखौं अपने धाम ।
हेरि माखन देंऊँ आछौ खाइ जितनौं स्याम ।
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि ।
कोउ कहै मैं बाँधि राखौं को सकै निरुवारि ।

सौंदर्य चित्रों के साथ सूर ने भयानक, करुण, रौद्र एवं हास्य-प्रधान चत्रों की भी अवतारणा की है । वर्षा तथा दावानल के वर्णन में कई भयानक चित्र अंकित किये हैं, 'घहरात, अरराात, दरराात, सरराात' जैसे ध्वन्यात्मक

शब्दों के द्वारा उन्होंने भयानकता का चित्र-सा उपस्थित कर दिया है "देखी मैं लोचन चुवत अचेत" शीर्षक पद में राधा का अत्यंत करुण चित्र अंकित हुआ है। हास्यरस के चित्र बाल-क्रीड़ा के प्रसंगों में बहुलता से आये हैं। सूर की हास्यमयी विनोदी वृत्ति भ्रमरगीत में भी प्रकट हुई है।

भावात्मकता:—हरिलीला का वर्णन गाथा—रूप में होते हुए भी भावात्मक है। सूरदास ने एक ही विषय पर अनेक पदों की रचना की है, पर उन पदों में भावैक्य नहीं है। प्रत्येक पद में भिन्न-भिन्न भावों का समावेश किया गया है। इसी हेतु एक विषय से सम्बन्ध रखने वाले कई पदों को पढ़ते हुए पाठक का मन ऊबने नहीं पाता। कृष्ण पालने पर लेटे हुए पैर का अंगूठा पी रहे हैं-इस विषय के वर्णन में एक स्थान पर प्रलयकालीन विस्मय-जनक दृश्यों का उद्‌घाटन है, तो दूसरे स्थान पर साक्षात कृष्ण द्वारा उस चरणारविन्द के रस को प्राप्त करने की अभिलाषा। यही बात मुरली, नेत्र आदि अनेक विषयों पर लिखे हुये पदों के सम्बन्धमें कही जा सकती है।

रचनाओं का सैद्धाँतिक आधार:—आचार्य वल्लभ से ब्रह्म-सम्बन्ध होने से पूर्व सूरदास ने जो कुछ लिखा था, वह भी उनकी धार्मिक भानना का ही परिणाम था ; परन्तु उस पर किसी सम्प्रदाय विशेष की छाप नहीं लगी थी। सामान्यतः सन्त जन जिस प्रकार भक्ति और वैराग्य के पद बनाकर गाया करते थे, सूरदास के पद भी उसी प्रकार के होते थे। इसीलिये इन पदों में आचार्य वल्लभ को अपनी सिद्धावस्था के अनुकूल हरिलीला-सम्बन्धी वह सामग्री न दिखाई दी, जो उनके पुष्टि—मार्ग का मुख्य आधार थी। परन्तु सूर ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित होकर जो कुछ लिखा, वह प्रमुख रूप से हरिलीला गायन से ही सम्बद्ध है। उनका सूरसागर हरिलीला का प्रधान काव्य कहा जा सकता है। सूरसागर में भगवान की बाल एवं किशोर अवस्थाओं के चित्रण के साथ ऐसी लीलायें सम्बद्ध हैं, जिनसे हमारे बाह्य एवं आँतरिक करणों की तन्मयता सहज सिद्ध होती है। इन लीलाओं में पुष्टि मार्ग के प्रवाही, मर्यादा मार्गी तथा शुद्ध पुष्ट जीवों के वर्णन आ जाते हैं। राधा कृष्ण की संयोग लीलायें, वसन्त, हिंडोल और फाग आदि के गीत उस परम मधुर रस के व्याख्यान हैं, जिनमें प्रेमा भक्ति अपने विशद रूप से चरितार्थ हुई। खंडिता के पद, मन-लीला तथा भ्रमरगीत परम विरह चित्रण करने वाले हैं। इसके बिना प्रेम की परिपक्वता सिद्ध नहीं होती। वैष्णव संम्प्रदाय की यह विशिष्ट प्रेम-पद्धति

है । विप्रलम्भ शृंगार प्रेम की परम पूत अवस्था को प्रकट करने के लिए परम आवश्यक है और सूर ने अत्यन्त भावभरित कला के रूप में उसका परिचय भी दिया है । सूरसारावली और साहित्य लहरी भी पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाली हैं । सूरसारावली में सूरसागर का सैद्धान्तिक सार निहित है । साहित्यलहरी अलंकार एवं नायिका भेद को लेकर चली है, पर विषय उसका भी राधा एवं कृष्ण की लीलाओं का वर्णन करना ही है । इसके निर्माण का मुख्य हेतु नन्ददास को काव्य-शास्त्र की शिक्षा के साथ हरिलीला-की ओर उन्मुख करना था ।

महात्मा सूरदास जी श्रीनाथ मन्दिर में कीर्तन किया करते थे और पुष्टि सम्प्रदाय के अनुसार जो नित्य और नैमित्तिक उत्सव मन्दिर में मनाये जाते थे, उन्हीं से सम्बंध रखने वाले पदों को बनाकर गाया करते थे । एक विषय से सम्बन्ध रखने वाला पद जब एक बार बन गया, तो दूसरी बार नवीन पद बनाया जाता था और इस प्रकार एक के पश्चात् दूसरा अभिनव पद निर्मित होता जाता था । सूरसागर इस प्रकार के सहस्रों नित-नूतन पदों का संग्रह है । पुष्टिमार्ग में कुछ विशेष उत्सवों के मनाने का प्रबन्ध किया गया था, जैसे राधाष्टमी, श्याम-सगाई, चन्द्रावली की बधाई, दान-लीला, गाय खिलाना आदि । नित्य-सेवा में भी जागरण, कलेवा, मंगला आदि विविध लीलायें आतीं हैं । इन सब लीलाओं पर सूर ने प्रभूत मात्रा में पदों की रचना की होगी, जिनमें से अब केवल ६,००० के लगभग पद बचे हैं । यदि हम सूर की रचनाओं का अध्ययन हरिलीला के सिद्धन्त पक्ष को समझ कर करें, तो हमें सूर की रचनाओं का विशिष्ट सैद्धान्तिक आधार स्पष्ट रूप से अनुभूत होगा ।

स्वाभाविक एवं साधारण सुलभ वर्णनः—सूरसागर में जिन घरेलू परि-स्थियों का चित्रण है, वे अत्यन्त स्वाभाविक रूप लिए हुये हैं । कृत्रिमता का आरोप उन पर कहीं भी लगा दृष्टिगोचर नहीं होता । साथ ही ये वर्णन साधारण जनता की दिन चर्या के निकट और सामान्य अनुभूतियों के सहज साथी हैं । श्रीकृष्ण के बाल–वर्णन में जिस प्रकार की स्वाभाविकता और सामान्य जन-सुलभ अनुभूति प्रकट हुई है, शृंगार वर्णन में भी उसी प्रकार की है । नीचे लिखे पद में यशोदा के मन की अभिलाषा प्रत्येक मातृ-हृदय के निकट और सहज रूप की है:—

यशुमति मन अभिलाष करै ।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगे कब धरनी पग द्वैक धरै ।

कब द्वै दन्त दूध के देखों कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नन्दहिं कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहिं ररै।

बच्चा कब बड़ा होकर घुटनों के बल चलेगा, कब उसके दांत निकलेंगे, तोतली वाणी से अम्ना-अम्मा कहता हुआ वह कब दौड़ता हुआ मेरे पास आयेगा— इसी प्रकार की आकांक्षायें प्रत्येक माता की होती हैं। बालक के दुःख की आशंका से माँ का हृदय कैसा धड़कने लगता है, यह कनछेदन संस्कार के समय अत्यन्त प्रकृत रूप में व्यंजित हुआ है।[1]

राधा का अपनी माँ के आगे मचलना, रूठना और अपनी टेक पर अड़े रहना, मनाने पर और भी अधिक रोने का ढंग करना, फिर माँ का रीझना और पुचकारना आदि ऐसे प्रसंग हैं, जिन्हें प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन अनुभव किया करता है। इन स्वाभाविक तथा साधारण-सुलभ प्रसंगों का उल्लेख हम 'सूर सौरभ' में मातृ-हृदय की अभिव्यक्ति के अन्दर कर चुके हैं।

उक्ति-चमत्कारः—वर्ण्य विषय के सहज सुलभ तथा स्वाभाविक वर्णन के साथ सूर की रचना में उक्ति-चमत्कार भी भरा पड़ा है। किसी बात के कहने के न जाने कितने ढंग सूर को आते थे। बाल-कृष्ण के बुद्धि-वैभव का अनुभव करके एक गोपी ने पूछा—"कहाँ तुम यह बुद्धि पाई स्याम चतुर सुजान ॥" कृष्ण से पूछा गया यह प्रश्न वस्तुतः सूर के चातुर्य पर ही प्रकाश डालता है। दधि में पड़ी चींटियों को निकालने का बहाना, छोटे हाथों ऊंचे सींके तक न पहुँच सकने का तर्क, मुख के दही को पोंछ डाल और दोने को पीठ पीछे ले जाने का उल्लेख उक्ति-चमत्कार के ही अन्तर्गत आता है। सूर की नवनवोन्मेषशालिनी कल्पना ने एक ही बात को अनेक रूपों में वर्णन करके उक्ति के पिष्टपेषण से उत्पन्न वासीपन को सदैव के लिए दूर कर दिया है। उन्होंने एक ही विषय को पूर्ण सफलता के साथ विविध प्रकार से चित्रित किया है। सूर का विषय परिमित है, पर इस विषय पर ही सहस्रों पद बना लेना हँसी खेल नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कथन—"सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है, उतनी ही वाग्विदग्धता भी"—सूरसागर में समाविष्ट नाना उक्तियों के चमत्कार का ही प्रतिपादन करता है। वाग्विदग्धता के कारण सूर की शैली में कथन की विशेषता आ गई है। सामान्य से सामान्य बात को उन्होंने चमत्कारपूर्ण शैली में अभिव्यंजित किया। हाँ, उनकी चमत्कृति

१"–लोचन भरि आये माता के कनछेदन देखत जिय मुरकी।"

में माथापच्ची नहीं, कृत्रिमता नहीं, सर्वत्र स्वाभाविकता, विशदता और प्रसन्नता के ही दर्शन होते हैं। भ्रमरगीत में ज्ञानयोग का खण्डन करते हुए सूर लिखते हैं:—"आयो घोष बड़ो व्यापारी, लादि खेप गुन ज्ञान योग की ब्रज में आई उतारी। फाटक दैकर हाटक माँगत भोरै निपट सुधारी, धुर ही तैं खोटो खायौ है लिये फिरत सिर भारी।" इस कथन में कितना चमत्कार है। गोपियों के प्रेम को लेकर उद्धव ज्ञानयोग दे रहे हैं। यह कार्य वैसा ही है जैसे कोई फटकन (भुसी) देकर किसी से सोना ले ले। भला कौन ऐसा भोला-भाला है, जो सोना देकर व्यर्थ की भूसी ग्रहण करेगा। भ्रमरगीत में उक्ति-चमत्कार का विशेष रूप से सन्निवेश हुआ है।

आध्यात्मिकता:—सूर की एक प्रवृत्ति यह भी है कि वे किसी घटना को अंकित करने के उपरांत अथवा कल्पना द्वारा किसी दृश्य को चित्रित करने के पश्चात पद की अन्तिम पंक्ति में इस धरातल को छोड़ देते हैं और शुद्ध रूप से अध्यात्म क्षेत्र में विहार करने लगते हैं। यह प्रवृत्ति तुलसी और जायसी जैसे संत कवियों में दिखलाई पड़ती है। सूर की यह प्रवृत्ति नीचे लिखी पंक्तियों से प्रकट होती है:—

"सूरदास को ठाकुर ठाढ़ौ, लिए लकुटिया छोटी।"

तथा

"जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ, सो नन्द भामिनि पावै।"

तुलसी की यह प्रवृत्ति रामचरित मानस के चारों वक्ताओं के भाषणों द्वारा प्रकट होती है। पद-पद पर राम की गाथा का वर्णन करते हुए वे उनके ईश्वरत्व की याद दिलाते चलते हैं। जायसी ने तो अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ पद्मावत को अपने शब्दों में ही एक बृहत् अन्योक्ति मान लिया है। पद्मावती और रत्नसेन की कहानी केवल नाम के लिए कहानी है। वास्तव में न कोई पद्मावती स्त्री है, न रत्नसेन राजा। समग्र कथानक आध्यात्मिक है, जिसमें चित्तौड़ शरीर है, रत्नसेन मन हैं, सिंहलगढ़ हृदय है और पद्मावती बुद्धि है। कथानक के बीच में अवसर पाते ही जायसी अध्यात्म क्षेत्र की बातें करने लगते हैं। सिंहलगढ़ की अमराई के वर्णन में वे कहते हैं:—

"जेहि पाई यह छाँह अनूपा।
सो नहिं आइ सहैं यह धूपा॥"

इस अर्द्धाली में स्पष्ट रूप से प्रभु की छाया (कृपा) और उसके द्वारा आवागमन से उत्पन्न संकटों एवं सतापों के दूर होने का वर्णन है। इसी प्रकार सूर भी गाथा गाते हुए सूर के ईश्वरत्व का उल्लेख करते चलते हैं। सूरदास ने कहीं-कहीं अत्यन्त विस्मय-जनक एवं आश्चर्यकारी दृश्यों की आवतारण की है। इन दृश्यों का मुख्य उद्देश्य उस रहस्मयी भावना की ओर ले जाना है, जो विश्व के मूल में सन्निहित है। कृष्ण के अँगूठा पीने से ही शिव चौंक पड़ते हैं, ब्रह्मा चिन्तित हो जाते हैं और प्रलय कालीन बादल घिर आते हैं। दावा नल का वर्णन भी विस्मयावह है और कंस के बध का दृश्य भी।

भक्त को सान्त्वना देने वाले प्रभु के गुणों में उनका एक गुण असुर निकन्दन और जन-मन-रंजन भी है। सूर ने उसे अन्य सन्त कवियों की ही भांति उपस्थित किया है:—

सूरदास प्रभु आई गोकुल प्रकट भये संतन हरष भये दुर्जन दहर के।

× × ×

सूरदास प्रभु असुर निकन्दन दुष्टन के उरगंस।

हरिलीला आनन्दमयी है। अतः लीलामय भगवान अपने भक्तों पर पड़ी हुइ विपत्ति को वैसे ही पी जाते हैं, जैसे सूर द्वारा चित्रित हरिलीला में श्रीकृष्ण दावानल का पान कर गये थे।

आर्य जाति को समय की आवश्यकता के अनुकूल ऐसे महाप्राण सन्त, महात्मा एवं दार्शनिक प्राप्त होते रहे हैं, जिन्होंने दुर्बलता के स्थान पर इसमें सबलता का संचार किया है, दुर्गुणों को दूर कर सद्गुणों की प्रतिष्ठा की है और जर्जर रूढ़ियों को निकाल कर अभिनव प्राण-प्रदायिनी विचारधारा का सन्निवेश किया है। सूर और तुलसी अपने युग के सुधारक और साहित्यिक ही नहीं, नूतन संदेशवाहक और जीवन-प्रदाता भी हैं। सच्चे कवि के रूप में अपनी बलवती वाणी द्वारा उन्होंने आर्य जाति के हृदय में जो चैतन्योन्मुख स्पन्दन जाग्रत किया, वह आजतक इस जाति को जीवित रखे है और भविष्य में भी उसे विभूत-सम्पन्न करेगा। नूतन तथा पुरातन समस्त क्रान्तदृष्टा ऋषियों की साधना आर्य जाति को उर्ज्जस्वित, उज्ज्वल एवं उत्यान (उत्थान) गामी बनाकर मानवता के लिए कल्याणकारिणी सिद्ध होगी, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। आवश्यकता है इस साधना-सम्पत्ति को सुरक्षित रखने की। आशा है, आर्य जाति की युवा संतति अपने इस कर्त्तव्य के पालन में सरत दत्त-चित्त रहेगी।

सूर का काव्यक्षेत्र – में स्थान

एक समय अमिताभ[१] बुद्ध द्वारा उपदिष्ट पथ जब उनके अनुयायियों द्वारा संकीर्ण कर दिया गया, क्षणवाद और शून्यवाद की ह्रासमयी एवं हानिमयी मूढ़ग्राहिता ने विहारों की आचार–शून्य प्रवृत्ति के साथ मेल करके उसे साधारण-जन-वंचित, संकुचित गली के रूप में परिणित कर दिया, तो अश्वघोष और नागार्जुन जैसे उदार चेताओं को उसे महायान का रूप देने में प्रभूत परिश्रम करना पड़ा था। बुद्ध धर्म तभी से हीनयान और महायान दो भागों में विभाजित हो गया। उसका महायान वाला रूप इस देश की उदार संस्कृति के अधिक अनुकूल था, अतः वही इस देश के जन-समूह द्वारा गृहीत हुआ ।

इसी प्रकार भागवत भक्ति का रूप जब निरंजनी, नागपंथी, निर्गुणी आदि साधुओं की पद्धति द्वारा संकुचित होने लगा, उस तक पहुँचने और उस पर चलने में जनता जब अपनी असमर्थता का अनुभव करने लगी, ठीक उसी समय आचार्य वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय भक्ति का उपदेश देकर भागवत भक्ति को उस महायान का रूप प्रदान किया, जिस पर जनता बिना किसी विघ्न-बाधा का अनुभव किये चल सकती थी। यह ऐसा संसरण पथ या राजमार्ग था, जिस पर चलने के लिये किसी को कहीं से भी निषेधाज्ञा नहीं मिल सकती थी। विधि–निषेध की रूढ़ियों से परे यह महायान रागानुगा भक्ति का विशाल पथ था, जिस पर चलने के लिये मानव को केवल अपने हृदय की अनुरक्ति की आवश्यकता थी। तभी भ्रमरगीत में गोपियां उद्धव से कहती हैं:-

> कारे कों रोकत मारग सूधौ।
> सुनि ऊधौ निर्गुण कंटक तें राज पंथ क्यों रूँधौ ॥
>
> सूरसागर (ना०प्र०स० ४५०८)

जिस पुष्टिपथ की आचार्य वल्लभ ने घोषणा की, उसे अष्टछाप के आठ कवियों ने अपनी वीणाओं में भरकर दिग्दिगन्त में प्रसृत कर दिया। स्वर्गीय आचार्य शुक्ल जी के शब्दों में, इन आठ कवियों में भी, "सबसे ऊँची,

---

२—'अभिताभ' शब्द यहाँ महात्मा बुद्ध के लिए विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। वैसे बौद्धसम्प्रदाय में यह शब्द महात्मा बुद्ध के एक विशिष्ट अवतार का द्योतक है।

सुरीली और मधुर झनकार अंधे कवि सूरदास की वीणा की थी।" इस भक्त कवि ने अकेले ही सगुण उपासना का जो मार्ग प्रशस्त किया, वह आज तक जनता के लिये हृदयग्राह्य बना हुआ है।

अष्टछाप के कवियों में तो सूर मूर्धन्य स्थान का अधिकारी है ही, इसे आज तक के सभी समालोचकों ने मुक्त कंठ से स्वीकार किया है। अष्ट-छाप के बाहर भी उसकी समता करने वाले ढूँढ़ने से मिलेंगे। सूर की टक्कर का हिन्दी साहित्य में केवल एक ही कवि है, और वह है कविकुल-चूड़ामणि गोस्वामी तुलसीदास। जहाँ तक भक्ति—क्षेत्र का सम्बन्ध है, वहां तक हम किसी को भी एक दूसरे से ऊँचा नहीं कह सकते, कहना भी नहीं चाहिए, पर जैसा सूरदास और हरिलीला के चीरहरण प्रकरण में लिखा जा चुका है, सूर की आध्यात्मिक सिद्धि तुलसी की अपेक्षा कुछ ऊँची अवश्य प्रतीत होती है। सूर के सम्बन्ध में नीचे लिखा दोहा अत्यन्त प्रसिद्ध है:—

तत्व-तत्व सूरा कही तुलसी कही अनूठी।
बची खुची कबिरा कही और कही सो जूठी॥

इस दोहे से भी आलोचना के इसी तथ्य का प्रकाश होता है।

काव्योचित नवीन प्रसंगों की उद्‌भावना करने में तो सूर अपनी समता नहीं रखते। स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'प्रसंगोद्‌भावना करने वाली ऐसी प्रतिभा हम तुलसी में भी नहीं पाते।' तथा "शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची, वहाँ तक और कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानों औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखा देखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही, पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप—वर्णन की ही प्रचुरता रही-बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भण्डार और कहीं नहीं।" सूरदास, पृष्ठ १५४

काव्यक्षेत्र में गोस्वामी तुलसीदास पुण्यश्लोक राम की जीवन—गाथा को सर्वश्रेष्ठ स्थान देकर आगे बढ़ते हैं। काव्य उनके लिए साधन है, राम—गाथा साध्य। रामगाथा में भी राम के ईश्वरत्व का प्रतिपादन प्रधान है, काव्य-सम्बन्धी अन्य बातें गौण। यह तथ्य उनके कवि रूप को कुछ हीन कर

देता है। इसी के साथ रामगाथा का इतिवृत्तात्मक रूप भी तुलसी के सामने विद्यमान रहता है, जो भावधारा के विकास में व्याघात डाल सकता है।
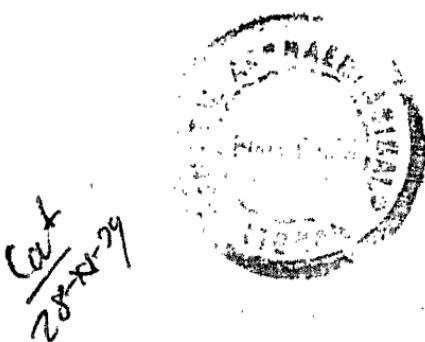
सूर प्रमुख रूप से भाव-प्रधान कवि है। वह घटनाओं के घटाटोप में नहीं पड़ता। जहाँ कहीं ऐतिहासिकता, पार्थिवता अथवा साँसारिकता का चित्रण आ जाता है, वहाँ वह दोहे चौपाइयों में उसे चलता कर देता है। वह घटनात्मक अथवा इतिवृत्तात्मक वर्णन-शैली का परित्याग करके शुद्ध रूप से भावात्मक जगत में विहार करने वाला कवि है। उसके मानस-चक्षुओं के सम्मुख विविधरूपा भाव-लहरियाँ उद्वेलित होती रहती थीं। एक बात को एक तथ्य को, वह अनेक रूपों में देखने और वर्णन करने का अभ्यासी था। एक छोटी सी-घटना को अपनी भाव-शबलता के सहारे वह विशाल रूप में अंकित कर सकता था। जीवन के विविध साँसारिक रूपों के विस्तार के स्थान पर उसके काव्य में भावों की गम्भीरता और उत्कृष्टता ही अधिकतर दिखलाई देती है। भाव की इस ऊंचाई और गहराई में विश्व के थोड़े से कवि ही सूर की समता कर सकेंगे। मुरली, नेत्र, गोपियाँ, पनघट, भ्रमरगीत आदि विषयों पर अभिव्यंजित उनकी भाव-राशि तो सूर को भाव-राज्य का एकक्षत्र सम्राट घोषित करती है।
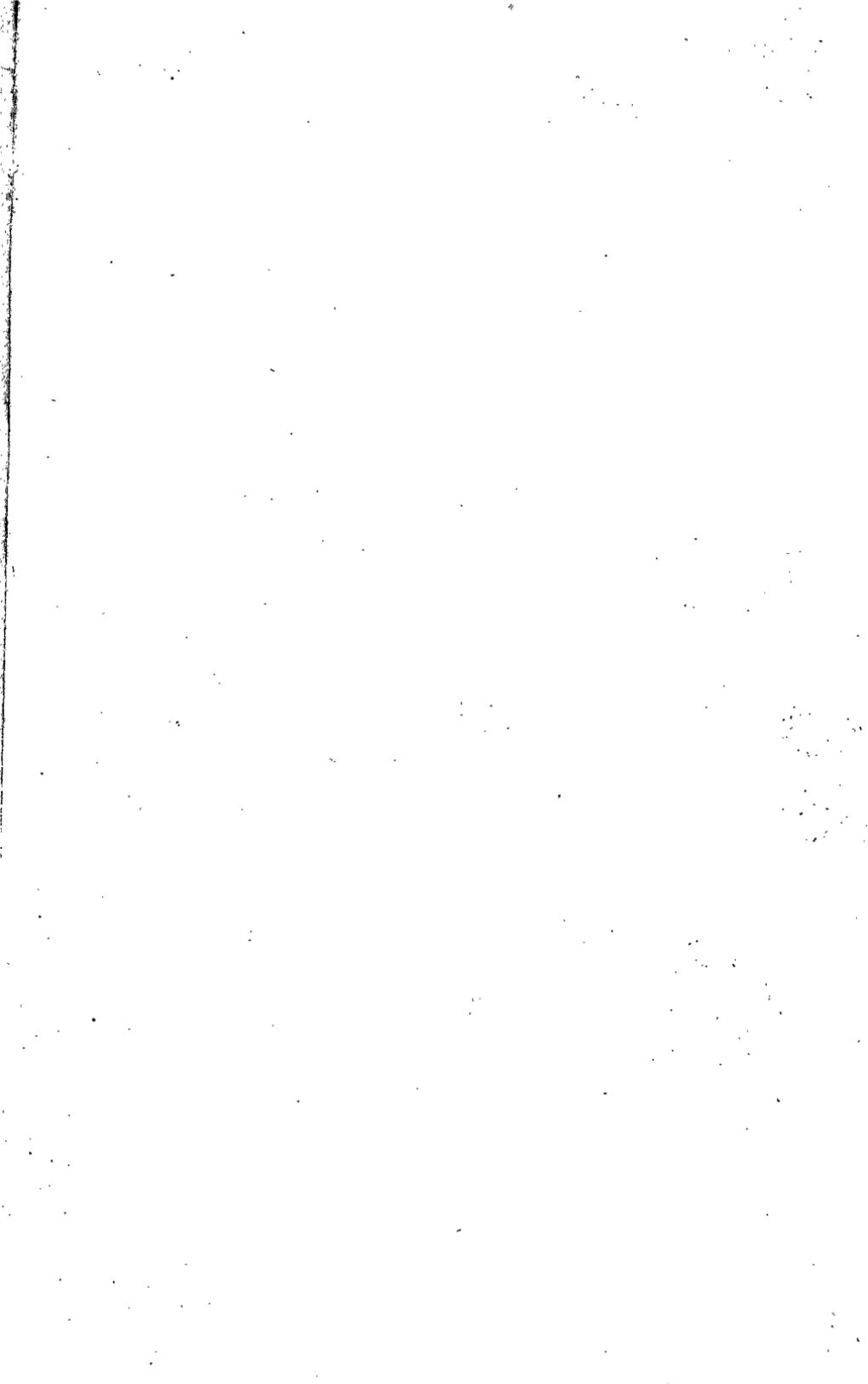
ललति कलाओं में पाश्चात्य मनीषियों ने काव्य-कला को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। काव्य कला भी दो प्रकार की है:—शब्द—प्रधान और भाव प्रधान। शब्द-सौन्दर्य प्रधान काव्य-कला संगीतकला के सदृश ही अपना आकर्षण और प्रभाव रखती है, परन्तु भाव-प्रधान कविता संगीत के आकर्षण और प्रभाव से भी ऊपर एकान्त मानसिक जगत की वस्तु है। भाव-प्रधान कविता को शब्द-प्रधान कविता से इसी हेतु उच्च स्थान दिया जाता है। शब्द पंचभूतों में सूक्ष्मतम आकाश का गुण है, अतएव प्राकृतिक है; परन्तु भाव चेतना-प्रणाली से सम्बन्ध रखता है। भावों के भी कई विभेद किये गये हैं। जो काव्य इन भावों को अपने पाठकों के हृदयों में उद्दीप्त एवं जाग्रत कर सके वह निस्संदेह उच्चकोटि का काव्य है। सूरसागर में ये भाव-वीचियाँ अनन्त हैं, अपरिमित हैं। सूरसागर पढ़कर पाठक किसी ऐतिहासिक घटना के बीच रंग-विरंगी रंगभूमि में प्रवेश नहीं करता, वह भाव-क्षेत्र में पहुँचकर आध्या—त्मिक वातावरण में विहार करने लगता है।

कतिपय कवि श्रुतिप्रिय काव्य की रचना करते हैं, रमणीय शब्दावलि का चुन-चुनकर प्रयोग करते हैं, कुछ उद्बोधक, वीरत्व-व्यंजक, उत्साह-वर्धक

काव्य का निर्माण करते हैं, कुछ मन और बुद्धि के स्तरों में दार्शनिक विचारों की मणियाँ भरकर उन्हें प्रकाशित करना चाहते हैं-पर विरले हैं वे कवि, जो सीधे आत्मा की बात आत्मा से कहते हों। सूर इन्हीं विरले कवियों में हैं। वह अन्तस्तल से बोलता है, जिसका प्रभाव बाहर के सभी स्तरों पर अनायास पड़ जाता है। श्रुति-प्रियता अथवा शरीर की बात अपने क्षेत्र तक सीमित रहती है, अधिक से अधिक बढ़ेगी भी तो केवल अपने निकटवर्ती प्राण को कुछ प्रभावित कर देगी। यही दशा अन्य क्षेत्रों की है। पर इन सभी स्तरों में जो व्याप्त है, जो अन्तर्यामी है, उसकी बात उसके निगूढ़तम प्रदेश से चलकर सभी स्तरों को प्रभावित करती हुई बाहर तक चली आती है। सूर का काव्य आत्मा का काव्य है। वह अंतर के तार को झंकृत करने वाला है, जिसके झंकृत होते ही बुद्धि निर्मल, मन विकसित, प्राण पुलकित और शरीर उल्लसित हो उठता है। भाव-साम्राज्य के अद्भुत सम्राट सूर को यदि किसी आलोचक ने नीचे लिखे दोहे में सूर्य कहा है, तो उसमें अत्युक्ति ही क्या है ?

सूर-सूर, तुलसी ससी, उडुगन केशवदास ।
अबके कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास ॥

●